वस्था का रटा शास्त्र अत्यन्त दृढ़ होता है, और प्रथम ही से नैतिक संस्कारों को आत्मा ग्रहण करने लगता है; किन्तु प्रौढ़ता पोढ़न तक सत्-सत्यानृत में पूर्ण पटुता प्राप्त कर प्रगल्भ बन जाता है। यदि गृह गृह बात २ पर सत्य तत्व की विवेचना होने लगे; और समाज में प्रमाणित होने पर लबड़ा स्वश्रेणी से च्युत कर, उसकी भर्त्सना की जाय; जिससे वह सबकी दृष्टि में तुच्छ होकर, उसके असद्भाव पर इतना प्रभाव अंकित हो कि वह अपने अनृतवाद का पश्चाताप प्रगट कर, सत्य भक्ति का प्रकर्षण करने लगे, तो समाज में सत्य व्यवहार से ऐक्यता का प्रादुर्भाव होकर अनुपम सुख का संसर्ग हो।

यद्यपि सनातन संस्था में वर्ण से पतित कर देने की पुरातन प्रणाली टूटी फूटी दशा में अब तक प्रचलित है; परन्तु वास्तविक सतीत्व उसका जो स्वत्व श्रृँगार ने उत्प्लुत कर दिया है, इससे लोग कुछ का कुछ करने और समझने लगे हैं—किन्तु "अहं एवास्मि" इसको अधिक जकड़ कर अवलम्बन करगये हैं, अर्थात् हम अमुक के हाथ का स्पृष्ट भोजन ग्रहण न करेंगे, अथवा अमुक जिस भोजन पंक्ति में सम्मिलित होगा, हमारा सम्मेलन उस में न होगा; क्यों कि वह हम से कुछ न्यून है-हम बड़े पवित्र हैं किंवा पवित्र ंश के हैं। चाहे वृत्ति हमारी अशुद्ध स्तेय आदि क्यों न हो; और वह व्यक्ति जिसका स्पृष्ट अशन हम अस्वीकार करते हैं धर्माचारी क्यों नहो; और ईश्वर भी उसे पवित्र क्यों न मानता हो। इसी पवित्रता के कारण विदेशी वस्तुओं और मनुष्यों सेभी पथ्य (परहेज) रखते हैं अस्पृश्य कर्म न्याय अगर्हित, परमार्थिक, और

स्वर्ग औदार्य्य भी क्यों नहो, न करेंगे। थोड़ा विचार भी करना चाहिये, कि महाराजा 'रामचन्द्र, ऐसे पवित्र ज्ञान पर आरूढ़ रहते, तो सती सीता जी का लौटकर आना लंका से क्योंकर होता; क्यों कि उस अपवित्र देश में पवित्र जल भी पीने को न मिलाहोगा। मैं सनातनधर्मी हूं। स्पृश्या स्पश्य शब्दों के उपयोग से मेरा धर्म 'सनातन धर्म, पर पानी फेर देना नहीं है; किन्तु इस बात पर ध्यान दिलाना अभीष्ट है, कि अपने हाथ अपनी गांड धोना भंगीपना नहीं है।

एवं ऐतिहासिक ढंग का सुधार और मूल तत्व सत्य का पुनरुद्धार अत्यावश्यक है, जो हमारी उदासीनता और शिथिलता का परम कारण है; किन्तु हम को अपवित्रता के हौआ से चुपकार कर हमारा सर्वस्व का हरण करने वाला बाँका और मीठा वञ्चक है। परन्तु उक्त भावका सुधार उस समय तक प्रभावित नहीं हो सकता है, जब तक कि अधिकांश समाज को सत्यासत्य के लाभालाभ से प्रकृष्ट परिचय नहो। प्रथम तो यथेष्ट तत्वका ज्ञान ही अत्युग्र है; यद्यपि इस तत्व की महिमा सर्वश्रुत है, तिसपर भी इस की संग्राह्य जिज्ञासा जाग्रत नहीं है। वरन् सत्यासीन की निर्भर्त्सना ही कोई नहीं करते हैं, उलटा कलंकित कर उपहाँस करने लगते हैं, कि अमुक लड़ा सत्यवादी का बेटा है। ऐसे हज़ारों में एक सत्य क्या शोभा पासकता है, और क्या उपयोगी हो सकता है? कैसे ही परम स्नेही अभिन्न हृदय मित्र क्यों नहो, वे भी इस समय परस्पर पूर्ण तया सत्य सम्भाषण नहीं करते। संसार में सत्य वक्ता और सत्य श्रोता दोनों ही दुर्लभ हैं।

जिस धर्म की जिज्ञासा नहीं है, उसका उपदेश भी निर्थक है; जैसे चलनी में दूध डालना-

नाशक्योप देश विधि रूप दिष्टे प्यनुदेशः (१-९ सांख्य)

इसी दृष्टि से व्यास, जैमिन क्रम से वेदान्त और मीमांसा शास्त्र कारों ने शास्त्र के आदि में ' अथातो ब्रह्म जिज्ञासा, ' अथातो धर्म जिज्ञासा, लिखा है। भावतः प्रथम जिज्ञासा निद्रोत्थित करना अत्यावश्यक है। यह ग्रंथ इसी उद्देश्य पर समाज सेवा में समर्पण किया जाता है। इस में सत्य संयम की संग्रहण शक्ति का श्रद्धोत्पादक औत्कर्ष निदान सम्पादन कियागया है; और योगादि साधनों से समीचीन सार-गर्भित गह्वर-सम्पर्क बतलाया गया है, जिससे सत्य संयमी को मौका पर सत्य की कोई अवहेलना दुष्कर न हो। प्रत्युत कोई ऐसी भी बाधा समुपस्थित हो जिसका प्रस्ताव शास्त्र अवहितहो, तो उसका निर्वाह सत्य संयमी को निरुपाय परिणाम नहीं होगा। शास्त्रज्ञ विद्वानों का मत है, कि ग्रंथकार को ग्रंथ गर्भित प्रतिपाद्य विषय में साधक आवश्यकताओं और समुपस्थित बाधाओंका निष्शेप सङ्कलन करना चाहिये। गुरुओं और शास्त्रों की यही उत्तमता और माहात्म है। तत्वतः जहांतक हो सका निष्किंचनने गर्हित बुद्धि और कृशाद दृष्टि से सद्ध्वर्गों के निमित्त सद्ध्वा के विघ्न स्थलों का संशोधन कर दिया है। इस भांति जैसे महत् पुरुषों के शुभागमन समय बुहारक रास्ता साफ़ कर देता है।

सत्य संयम की ग्राह्य जिज्ञासा सर्व साधारण में जाग्रत होना अतिकठिन है क्यों कि यह तत्काल हानि

कारक मुँह से कौर छीन लेने वाला अक्रूर विषय है । मेरा अंतःकरण इस जिज्ञासा को चैतन्य करने के लिये बीड़ा लेने की अनुमति देता है; पर कोई ऐसा औदार्य्य विवेचक हो, तब । अन्यत्र मेरी कार पण्य दशा के कारण यह सिद्धान्त ऐसा है; जैसा विना पंखों के आकाश में उड़ने का मनोर्थ । इस मर्म को शास्त्रज्ञ पुरुष उत्तमता से जान सकते हैं, कि जिसमनुष्य की आत्मा जिस विषय में अधिक इच्छक होती है, वह कार्य्य उसके हस्त गत होने से शीघ्र और उत्तमता पूर्वक हो सकता है, क्यों कि जिस मनोकामना की हृदय में तीव्र संवेगना होती है, उसका सौभाग्य समय संयोग होने पर उसकी पूर्ति में आत्मा इषुकार के समान ध्यानावस्थित होकर प्रेमास्वादन करता हुआ प्रचुर परिश्रम करने पर भी क्लान्त का अनुभव नहीं करता; इश्क़ शीरी में फ़रहाद के समान । मनुष्य का आत्मा किसी न किसी कर्त्तव्य पालन में अवश्य दृढ़ होता है । यह वासना उसके हृदय में पूर्व कृत स्वाभाविक स्थिर हुआ करती है । कई मनुष्य स्वतः विना किसी की प्रेरणा के स्वल्प अभ्यास में किसी विषय की कुशलता प्राप्त कर लेते हैं, यह उनके पूर्व संस्कार का प्रताप है । वही काम अन्यों को अति प्रयत्न बार बार पर भी अप्राप्य होता है । कई मनुष्य सीखे हुये काम को पूरा नहीं कर सकते हैं और कई मनुष्य नवीन सृष्टि का आविष्कार कर देते हैं । ऐसे मनुष्य संसार में बहुत थोड़े होते हैं । एवंम् ऐश्वर्य्यवान् वृहत् पुरुषों से निवेदन है कि वह समाज के लाभार्थ अपनी सहायक अनुमति प्रदान करें; तो देश भक्ति का चकल्लस और अनृतवाद का भंपण शत्र समर्पण किया जाय । जिससे परम कल्याण कारक

सत्य धर्म की जिज्ञासा शीघ्र जाग्रत होकर अशांति का परदा पतन हो। उन प्रथित महात्माओं से भी जिनका शासन अथवा भाषण समाज में अधिक प्रभावशाली और माननीय है विशेष प्रार्थना है, कि किंचत इस ओर भी ध्यान देकर आधीन के परिश्रम को सफल करें, और अपनी कंकूपणी प्रखर किरणों से उपर्युक्त न्यकाराचारों का शोषण कर शीतल वर्षणी किरणों से शांति प्रसव सुस्वा द्रुस्यु का प्रवर्पण करें।

यह ग्रंथ दो भागों में विभाजित किया गया है। प्रथम भाग में नौ पोड़ और द्वतीय भाग में १८ अध्याय गीता है। पुस्तक के प्रथम भाग के पाठों का नाम जो "पोड़" सङ्कल्प है वह लाठी के रूपक सिद्धार्थ है! कहीं कहीं "नौ पोड़" की लाठी श्रेष्ठ प्रसिद्ध है -- यथा बात चीत में कहने लगते हैं, कि अमुक काम के वास्ते मेरे पास "नौ पोड़" का लट्ठ है, अथवा आप तो यों ही नौ पोड़ की बातें मारा करते हैं -- एवं यह ग्रथ भी काम वासनाओं को घायल करने के लिये तथा अंधों --- अज्ञ पुरुषों --को--जो वृहत विश्व ज्ञानालय में नित्य घटनाओं के संयोग वियोग से "दत्तात्रेय" के तुल्य शिक्षा ग्रहण का अनुभव नहीं कर सकते हैं-- कल्याण मार्ग में विषम स्थल टटोलने के लिये "नौ पोड़ा लट्ठ" है; और यही न्यायाधीश परमात्मा का हाथ पकड़ आग्रह पूर्वक अव्यय सुख (मोक्ष) दिखाने वाला परम मीमांसक अद्भुत वकील है।

अभी इस पुस्तक का प्रथम भाग प्रकाशित हुआ है। जिसमें श्री भगवतगीता का "सत्ययोग -- उदाहार"

वर्णन किया गया है। यदि पाठकों को इससे लाभान्वित रुचि प्रतीत होगी, तो गीता वर्ग नामक तृतीय जिल्द प्रकाशित की जायगी। उसमें श्री मद्भगवद्गीता के आधार पर सर्व मान्य सत्य रहस्य प्रोक्त होगा।

मनुष्य की बुद्धि सदैव एकरस नहीं रहती है, जो बात कि अभी अभिमत है कल वही अनभिमत ज्ञात होने लगती है। इस प्रकार की त्रुटियां तथा भूलें जो पश्चात् द्रण के विदित हुई हैं, उनका सम्प्रति सुधार नहीं हो सकता — तृतीय मुद्रण में किया जायगा जो। अशुद्धियां पाठकों को प्राप्त हों उनकी सूचना मुझे समय समय पर देते रहें — यह उनकी अधिक कृपा होगी। उन पर तृतीय मुद्रण में अवश्य ध्यान दिया जायगा ; और संशोधन किया जायगा।

इस ग्रंथ की रचना का श्री गणेश माघ सम्वत् १९७७ की गणेश चतुर्थी को होकर चैत्र सम्वत् १९७७ को गणेश चतुर्थी को समाप्त हुआ।

इस ग्रन्थ में जिन ग्रंथो की सहायता ली गई अथवा प्रमाण दिया गया है उनके नाम:—

(१) श्रीमद्भगवत् गीता, (२) गीता रहस्य लोकमान्य तिलक बालगंगाधर रचित, (३) योग दर्शन, (४) सांख्य दर्शन, (५) न्याय दर्शन, (६) वैशेषिक दर्शन, (७) वेदान्त दर्शन ; (८) मीमांसा दर्शन (९) मुण्डकोपनिषद, (१०) बृहदारण्यकोपनिषद, (११) कठोपनिषद, (१२) अथर्व वेदी मुंडक, (१३) छान्दोग्य, (१४) महाभारत, (१५) मनुस्मृति, (१६) तुलसी कृत रामायण, (१७) निर्भय विलास (१८) भोज

प्रबंध सार, (१९) सुश्रुत संहिता, (२०) भृत्यहरि नीति, (२१) हितोपदेश, (२२) चाणक्य नीति, (२३) हनुमानाष्टक, (२४) फरीसा, (२५) श्री वेंकटेश्वर समाचार पत्र बम्बई (३०-९-२१) २६ वैद्य इटावा, (२७) सागार धर्मामृत जैन ग्रंथ, (२८)गीता ज्ञानेश्वरी, (२९)सत्यार्थ प्रकाश, (३०) और योग वाशिष्ठ भाषा। इसके अतिरिक्त भी जिन ग्रंथों तथा कवियों के प्रमाण दिये गये हैं उनके नाम स्पष्ट लिखे गये हैं।

अयोध्याप्रसाद "रत्नाकर"

विषयों की अनुक्रमणिका:—

पुस्तक मिलने का पता:—

अयोध्या प्रसाद "रत्नाकर" मु० पो० जाखलौन,
जि० झांसी।

हरिः ॐ तत्सत्।

गीता सत्ययोग।

प्रथम भाग।

अभ्यास वर्ग।

दोहा—गणपति गज आनन गिरा। शुभगुण सदन सुबोध।
कृपा कटाक्षानंद प्रद। सत्याकर्ष प्रबोध॥

मुष्ठि * (मूल)

सत्य कहोगे विश्वस्त होअगे, असत्य कहोगे अविश्वस्त होयगे, हज़ार मुंह हज़ार बात, हज़ार बात की एक बात, सत्य सङ्कल्प का आदर्श, जोश को वकील, लौंडे के हाथ में डट की नकील।

विषय वासना देखो टट्टू, मार देव नौ पोड़ा लट्ठ।
लठिया टेकत टिरकत जाव, ऊंच नीच थल समुझत जाव॥
पहुंचोगे मंज़िल मक़सूद, वासल वस्ल होय मौजूद।
सच रह नुमां मुश्किल साफ़, रफ़ा करे सब बातिन आफ़॥

(ग्रंथकार)

---

* लाठी (लट्ठ) की मूँठ।

प्रथम पोड़।

अध्यात्म ज्ञान की कठिनता।

—~~~—

अन्धो मणि मविध्यत् तमनङ्गुलि रावयत्।
अग्रीवस्तं प्रत्यमुञ्चत् तमजिव्होऽभ्य पूजयत् ॥ १ ॥
(४–३१ व्यासभाष्य योग दर्शने)

अर्थः- जिस के आँख नहीं है उसने मणि को बींधा, जिसके अङ्गुली नहीं हैं उसने उसको पिरोया, जिसके गर्दन नहीहै उसने ऐसी मणि (माला) को पहरा और जिह्वा जिस के नहीं है उसने उसकी प्रशंसा की।

धन्य है! उस सर्व शक्ति-मान् परमात्मा को, कि जिस की न्यूनांश शक्ति तथा परमाणु (आत्मा) का निरूपण वेद शास्त्रादि समस्त ग्रंथ और योगेश्वरादि प्रज्ञ पुरुष सुगम रीति से नहीं कर सकते हैं, क्यों कि वाणी की शक्ति ही उस श्रेणी तक नहीं पहुंच सकती है। सगुण स्वरूप श्रीकृष्ण— भगवान् ने अर्जुन को अपना योगेश रूप देखने के लिये कहा था, कि मैं तुझे दिव्य दृष्टि देता हूं, तू अपनी दृष्टि से मुझे देखने योग्य नही है:-

श्लोक—न तु मां शक्य से द्रष्टु मनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्यमे योग मैश्वरम् ॥
(११–८ श्रीमद्भगवतगीता)

अर्थः- हे अर्जुन तू अपने नेत्रों से मुझे नहीं देख सकता है मैं तुझे दिव्य द्रष्टि देता हूं तू मेरे योगेश रूप को देख।

जब ऐसे अर्जुन को, कि जिसको भगवान् श्रीकृष्ण प्रथम १० अध्याय उपदेश कर चुके, किन्तु अर्जुनभी कहचुके कि:-

श्लोक--मदनुग्रहाय परमं गुह्य मध्यात्म संज्ञितम् । यत्व योक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतोमम ॥१॥ भवाप्योहि भूतानां श्रुतौ विस्तर शोमया । त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्य मपिचाव्ययम् ॥२॥
(भगवत् गीता अध्याय ११)

अर्थः—अध्यात्म संज्ञक याने आत्मज्ञान विषयक परम गुह्य वचन जो आपने कहे वह आप की कृपा है, उससे मेरा मोह दूर होगया; और हे कमल पत्र नेत्र ! आप का अव्यय (अक्षय) माहात्म भी आप से सविस्तार सुन लिया ।

वह मोह रहित अर्जुन अपनी दृष्टि से सगुण स्वरूप श्रीकृष्ण के योगेश रूप को नहीं देख सकते थे, तो साधारण मनुष्यों को कैसे निर्गुण ब्रह्म का ज्ञान सुगम हो सकता है । जो अनिर्वाच्य, अचिन्त्य अग्राह्य, अदृष्टि और श्रुति से भी अकथनीय है, अर्थात् श्रुति भी जिसे नेति नेति कहता है ।

उपनिषदादि ग्रंथो में लिखा है, कि ब्रह्म मुँह से नहीं बतलाया जा सकता वह दिखने तो लगता है, पर आँख से नहीं दिखता और ज्ञात भी होने लगता है, पर समझ में नहीं आता अर्थात् अनुभव स्वरूप है; यथाः—

तदव्यक्त माहहि । (३-२-२३ वेदान्त दर्शने)

अर्थः- वह अव्यक्त ही कहा है अर्थात् उस ब्रह्म को शास्त्र इन्द्रिया तीत कहते हैं ।

अपिच संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्। (३-२-२४ वेदान्त दर्शने)

अर्थः- संराधन अर्थात् उपासना, भक्ति में ध्यान में प्रत्यक्ष और अनुमान से भी यही निश्चय होता है।

नचक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यै र्देवैस्तपसा कर्मणावा। (३-१-८ मुण्डोकोपनिषद्)

अर्थः- वह ब्रह्म न आँख से न वाणी से न अन्य इन्द्रियों से अथवा तप व कर्म से भी ग्रहण किया जाता है।

एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्य स्थूल मणन ह्रस्व मदीर्घ मलोहित मस्नेहम्। (३-८-८बृहदा०)

अर्थः- हे गार्गि! इस अक्षर (ब्रह्म) को ब्रह्म वेत्ता कहते हैं, कि वह स्थूलनहीं, अणु नहीं, ह्रस्वनहीं, दीर्घनहीं, लालनहीं और चिकना नहीं इत्यादि।

सएष नेति नेत्यात्माऽग्रह्यो नहि ग्रह्यते। (३-९-२६ बृहदा०)

अर्थः—वह ऐसा आत्मा है जो नेति नेति कहा जाता है न वह ग्रहण हो सकता है और न ग्राह्य है अर्थात् ग्रहण करने योग्य नहीं है।

पराञ्चि खानि व्यतृणात्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मान मैक्षदावृत्त चक्षुर मृतत्व मिच्छन्। (४-१ कठोपनिषद्)

अर्थ.— इन्द्रियाँ बाह्य विषयों को ग्रहण करती हैं, अन्तर आत्मा को नहीं. क्यों कि स्वयंभू ने इन्द्रियों को बाह्य वृत्ति बनाया है, किसी धीर मुमुक्षुने ही परमात्मा को आँख बंद कर भीतर देखा है।

ज्ञानप्रसादेन विशुद्ध सत्त्वत्तस्तु तंपश्यते निष्कलंध्यायमानः ॥
(३·१·८ मुंडोकोपनिषद्)

अर्थः- ज्ञान प्रसाद करके विशुद्धात्मा उस कला रहित को ध्यान करता हुआ देखता है।

अथ परायया तदक्षर मधिगम्यते, यत्तद द्रश्य मग्राह्य मगोत्र मवर्णाम् । (अथर्व वेदी मुंडक० १-१-५)

अर्थः- वह अक्षर (ब्रह्म) परा (विद्या) करके अधिगम्ब होता है अर्थात् जाना जाता है जो अदृश्य, अग्राह्य, अगोत्र और अवर्ण है। सारांश यह है, कि वह निरवयव ब्रह्म इन्द्रिय गोचर नहोकर इन्द्रियों से नहीं जाना जासक्ता है, विना आँख के जीवात्मा ही स्वयं अनुभव करने वाला है।

॥ चौपाई ॥

विन पद चले सुने विन काना। कर विन कर्म करे विधनाना ॥
आनन रहित सकल रस भोगी। विन वाणी वक्ता वड़ योगी ॥
तनु विन परस नयन विन देखा। गृहे घ्राणि विनु वास अशेखा ॥
अस सब भांति अलौकिक करणी। महिमा जासु जाइ नहि वरणी ॥
(तु०रामायण बालकांडे)

श्लोक– आश्चर्य वत्पश्यति कश्चिदेन माश्चर्य तथैव चान्यः ।
आश्चर्य वच्चैन मन्यः, शृणोति, श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥
(२-२९ भगवत्गीता)

अर्थः—कोई इस अद्भुत आत्मा को आश्चर्य-वत् कहते हैं कोई आश्चर्यवत् देखते हैं कोई आश्चयवत् सुनते हैं और कोई सुनना भी नहीं जानते हैं।

यह परम अणु से भी परमाणु है परम महत्व से भी महत्व है, सर्व ओरसे सर्व इन्द्रियों वाला है, सूक्ष्म सेभीसूक्ष्म और स्थूल सेभी स्थूलहै। देखिये ! स्वप्नावस्था में कैसी विस्तार पूर्वक सृष्टि आत्मा से उत्पन्न हो जाती है, और फिर उसी में लय हो जातीहै, यह एक साधारणअद्भुतता है। समझमें नहीं आता, कि इस छोटे से शरीर में इतना बड़ा आडम्बर कहाँ से प्रवेश होता है, जब कि इन्द्रियाँ अपना २ कर्तव्य छोड़ कर विश्राम लेती हैं। योग वाशिष्ठ में इसका सविस्तार निरूपण है। सगुण और निर्गुण ब्रह्म का ज्ञान तो कठिन है ही परंतु, शोच्य अशोच्य वस्तु का जानना भी दुर्लभ है, वह भी साधारण मनुष्यों को क्या? अर्जुन सरीखे प्रज्ञ पुरुषों को भीः—

श्लोक—अशोच्या नन्व शोचस्त्वं प्रज्ञा वादांश्च भाषसे ।
गतासू न गता सूंश्च नानुशोचन्ति पंडिताः ॥
(२-११- भगवत्गीता)

अर्थः—(श्री कृष्ण भगवान् ने अर्जुन से कहा कि) तुम उसका शोच करते हो जो सोचने योग्य नहीं है, और पंडितों की भांति बातें करते हो।

अब कहिये! ऐसे प्रज्ञ पुरुषों की यह दशा! उन मूर्ख लोगों का कहां ठिकाना है, कि जिनको काला अक्षर भैंसा-कार है। ऐसे अगम्य विषय का यथेष्ट प्राप्ति निमित्त उपाय मिलना और उस को यथाविधि सङ्कलित करना अति दुर्गम है। किसी समय वाष्कलि ने महात्मा वाह्व के समीप जा कर ब्रह्म ज्ञान की जिज्ञासा में वाह्व से पूंछा, कि महाराज ब्रह्म क्या है? वाह्व ने वाष्कलि के प्रश्न का कुछ उत्तर नही दिया, तब वाष्कलि ने फिर पूछा, कि ब्रह्म क्या है? मुझे इस के जानने की अति आकांक्षा है कृपा कर कहिये। ऐसा कई वार प्रश्न करने पर भी वाह्व ने कोई उत्तर न देकर यह कहा, कि तेरे प्रश्न का उत्तर शांति (चुप) होनाही यथार्थ है, क्योंकि ब्रह्म का निदान बुद्धि और वाणी गम्य नहीं है। किसी प्रकार बतलाया नहीं जा सकता है। परम शांति स्वरूप है। तेरे प्रति प्रश्न पर प्रश्नोचित उत्तर मैंने दिया है, परन्तु हे वाष्कलि! तू समझा नहीं है!! (गीता रहस्य सफ़ा ४०६)। जैसे तोतला अध्यापक विद्यार्थी को अक्षर का स्पष्ट उच्चारण नहीं बतला सकता, वैसेही ब्रह्मवेत्ता अनुभवी विज्ञानी महात्मा भी किसी ब्रह्म जिज्ञासु को यह नहीं बतला सका कि ब्रह्म क्या है।

दोहा—कहत कठिन समुझत कठिन, साधन कठिन विवेक।
होय घुणाक्षर न्याय जिमि, पुन प्रत्यूह अनेक ॥
(तु० रामायणे)

किसी पाठशाला का अध्यापक टवर्ग उच्चारण में बहुत तुतलाता था, जब वह विद्यार्थी से यह कहलाना चाहता 'ट ठ ड ढ ण' तो कहने लगता, कि कहो 'त थ द ध न'। इसी तरह विद्यार्थी भी कहने लगता था, कि त थ द ध न; तब आप विद्यार्थी पर नाराज़ हो कर कहने लगते थे, कि अरे! बड़ा लंठ है समझता नहीं है !! हम तोतले हैं, जैसा हम कहते हैं वैसा मत कह हम चाहे जैसा कहें, परंतु तू ऐसा ही कह, कि त थ द ध न। लड़का फिर भी इसी तरह कहे इसपर अन्य लोग बहुत हंसने लगें, बेचारा अध्यापक बहुत लज्जित को प्राप्त हो यही दशा ब्रह्म निरूपण की जानना चाहिये।

इति गीता सत्ययोग प्रथम पोड़ समाप्तः।

तृतीय पोड़ ।

सत्य प्रवेक ।

बहुशास्त्रगुरूपासनेऽपि सारा दाने षट् पद वत् (४:१३ सांख्य दर्शने)

अर्थः-अनेक शास्त्र और अनेक गुरुओं की उपासना में सार मात्र ग्रहण करे, भौंरा के समान।

सत्य प्रायः सब मनुष्य चाहते हैं और इसको पाने की लालसा में यथा बुद्धि तारतम्य प्रयत्न भी करते हैं, कोई भजन करते हैं, कोई पूजन करते हैं, कोई जप, तप, नेम, व्रत (उपवास) यज्ञ, दान और पुण्य करते हैं। कोई तीर्थ यात्रा के लिये द्वारका, जगदीश, रामेश्वर इत्यादि मका, मदीना, गिरनार जाते हैं। कोई मंदिर, गिरजा, मसजिद जाकर स्तुति इबादत करते हैं, और कोई संध्योपासनादि वंदन करते हैं। कोई सनातन हैं, कोई आर्य्या हैं, कोई इसलामी, ईसाई, बौद्ध और जैनी इत्यादि हैं। इनमें कोई निर्गुण, सगुण, राम, कृष्ण, शिव और पार्वती इत्यादि उपासक हैं। कोई वाहबी, यहूदी, सिया, सुन्नत, श्वेतंबरी, दिगम्बरी और चारवाक जैनी होते हैं। परस्पर अनेक प्रकार से वाद विवाद करते हैं; और बहुधा प्रतियोगी लड़ाई झगड़े इसमें खड़े होते हैं, कोई २ प्राणार्पण के लिये भी त्यार रहते हैं। मज़हबी जोश में कई प्राण घातिक अभियोग हो चुके हैं। यह

अशान्तत्व प्रयत्न पर्वत पर कुआँ खोदने के तुल्य है, क्यों-कि क्रोध तो पाप का मूल है:—

"..........................अशांतस्य कुतः सुखं" (२-६६ गी०)

श्लोक- शक्नोती हैव यः सोढुं प्राक् शरीर विमोक्षणात।
काम क्रोधोद्भवं वेगं सयुक्तः स सुखी नरः। (५—२३ गीता)

अर्थः—जो मनुष्य काम और क्रोध के वेग को शरीर छूटने से पहले रोक सकता है वही युक्त और सुखी है।

यहां हमको किसी मत के खंडन मंडन अथवा सन्नीवाद से कुछ प्रयोजन नहीं है, और न देश, जाति, वर्ण, मत, संप्रदाय इत्यादि किसी से स्नेह है। हमको सत्यवेत्ता सर्वमत मान्य हैं। इस ग्रंथ में ऐसे अनुपम् विषय का प्रकीर्तन किया जाता है, कि जो सबको सांसारिक और पार लौकिक परम कल्याण कारक, तथा आस्तांप उपयोग है और किसी मत में प्रतिसिद्ध नहीं है। इसका प्रशरणय मक अभीप्सित फल प्राप्त कर सकता है।

मोक्ष कोई वस्तु नहीं है जो हाँथ में आ जाय, कोई देश अथवा स्थान नहीं है जहाँ किसी यान पर आरूढ़ हो कर पहुँच जाँय, कोई भोज्य पदार्थ नहीं है जिसे निगल जाँय खा जाँय, या चबा जाँय, कोई मंदिर या महिल नहीं है, जो चार छै महीना या वर्षों में बनवा लिया जाय, कोई व्यक्ति स्थल इसका नहीं है, कि पता जिसका किसी से दरयाफ्त कर लिया जाय, यह ऐसी वस्तु है, कि इसको पाने के लिये दूर नहीं जाना पड़ता, कहीं से ख़रीद कर नहीं लाना पड़ता है। यह किसी के पास ऐसी

नहीं रहती है, कि जिससे मांगने से मिल जाय। कपिल मुनि का कथन है :—

नानन्दाभि व्यक्ति मुक्ति निधर्मत्वात्। (५--७४ सांख्य)

अर्थः-आनन्द का आविर्भाव मोक्ष नहीं, आत्मा का धर्म न होनेसे।

न विशेष गुणोच्छित्ति स्तद्वत। (५--७५ सांख्य)

अर्थः-ऐसे ही विशेष गुणों का उच्छिन्न हो जाना भी मोक्ष नहीं बन सकता।

न विशेष गतिर्निष्क्रिय स्य। (५--७६ सांख्य)

अर्थः-न विशेष गति निष्क्रिय की मोक्ष है।

ना कारोप रागोच्छित्तिः क्षणिकत्वादि दोषात्। (५--७७ सांख्य)

अर्थः-न आकार के उपराग का नाश होना भी मोक्ष है क्षणिक इत्यादि दोष से।

न सर्वोच्छित्ति रपुरुषार्थ त्वादि दोषात्। (५-७८ सांख्य)

अर्थः-सर्व नाश हो जाना भी मोक्ष नहीं है ऐसा मानने से अपुरुषार्थ त्वादि दोष होता है।

एवं शून्यमपि। (५--७९ सांख्य)

अर्थः-एवं शून्य भी अर्थात् शून्य होजाना भी मोक्ष नहीं है।

न संयोगाश्च वियोगान्ता इति न देशादि लाभोऽपि। (५--८० सांख्य)

अर्थः-किसी देशादि का पाजाना भी मोक्ष नहीं है क्योंकि सब संयोग और वियोगान्त हैं।

न भागि योगो भागस्य। (५--८१ सांख्य)

अर्थः-भागी में भाग का योग होना भी मोक्ष नहीं है।

आणिमादि योगोऽप्य वश्यं भावित्वात्त दुच्छित्ते रितर योगवत् (५--८२ सांख्य)।

अर्थः-न अणिमादि (सिद्धियों) का योग भी मोक्ष हो सकता है इतर संयोगों के समान वह भी वशीकार नहीं।

नेन्द्रादि पद योगोऽपि तद्वत्। (५--८३ सांख्य)

अर्थः-ऐसे ही इन्द्रादि पदवी का पाना भी मोक्ष नहीं हो सकता है।

न भूत प्रकृतित्व मिन्द्रियाणामाहंकारित्व श्रुतेः। (५--८४ सांख्य)

अर्थः-न इन्द्रियों के भूतों का प्रकृतिपना है अहंकार धर्म सुनने से।

न षट् पदार्थ नियमस्तद्बोधान्मुक्तिः (५-८५ सांख्य)

अर्थः-न छः पदार्थ का नियम है इससे उनका बोध (ज्ञान) भी मोक्ष नहीं।

षोड़शादिष्व प्येवम्। (५-८६ सांख्य)

अर्थः-इसी प्रकार षोड़शादि (पदार्थ-ज्ञान) भी जानना चाहिये।

अत्यन्त दुःख निवृत्या कृत कृत्यता। (६-५ सांख्य)

अर्थः-दुःखोंकी अत्यन्त निवृत्ति कृत कृत्यता(मोक्ष) है।
पतञ्जलि मुनि भी योग में कहते हैं:—

पुरुषार्थ शून्यानां गुणानां प्रति प्रसवःकैवल्यं स्वरूप प्रतिष्ठा वा चिति शक्तिरिति। (४-३४ योग दर्शने)

अर्थः-पुरुष अर्थ शून्य गुणों का लय अथवा चित शक्ति का स्वरूप में स्थिति कैवल्य (मोक्ष) है।
कणादि मुनि वैशेषिक शास्त्र में कहते हैं :—

अपसर्पण मुपसर्पण मशित पीत संयोगाः कार्य्यान्तर संयोगाश्चेत्य दृष्ट कारितानि। (५-२-१७ वैशेषिक दर्शने)
तद् भावे संयोगा भावोऽप्रादर्भावश्च मोक्षः। (५-२-१८ वैशेषिक दर्शने)

अर्थः-(मन का) बाहर निकल जाना समीप चला जाना खाये पिये और अन्य कर्मों के साथ संयोग होना ये सब प्रारब्ध कर्मानुसार होते हैं जो अदृष्ट हैं (१७) उसके अभाव में संयोग न हो और जन्म न हो वही मोक्ष है ॥१८॥

सारांश यह है, कि मनुष्य का क्लेश, कर्मों से रहित हो जाना ही मोक्ष है। परन्तु क्लेश कर्मों से रहित हो जाना अत्युग्र है:—

न श्रवनमात्रात्त सिद्धिरनादि वासनायां बलवत्वात्। (२–३ सांख्य)

अर्थः-श्रवण मात्र से उस (मोक्ष) की सिद्धि नहीं हो सकती अनादि वासना के बलवान होने से।

अनेक जन्म पर्यन्त लगातार साधन करने से कहीं विरला ही कर्म बंधन से छूट सकता है :—

श्लोक—प्रयत्नाद्यत मानस्तु योगी संशुद्ध किल्विषः।
अनेक जन्म संसिद्धस्ततो याति परां गतिम्। (६-४५ गी०)

अर्थः-इस प्रकार योगी प्रयत्न से योग करता २ पापों से शुद्ध हो कर अनेक जन्मों में सिद्धता को प्राप्त होकर परम गति पाता है।

श्लोक— मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यतता मपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्तितत्वत:। (७-३ गी०)

अर्थः-हज़ारों मनुष्योंमें कोई एक सिद्धता केलिये उपाय करता है और उनमें कोई एक निश्चय से मेरा जानने वाला होता है।

कोई साधन भी ऐसा सुगम प्रतीत नहीं होता जिसके साधने से विश्वास जनक प्रत्यक्ष प्रमाण की कुछ प्राप्तिहो। जैसे कुवाँ खोदने का कार्य्य प्रारम्भ करने से किसी वक्त उस में पानी निकल ही आता है। विद्या पढ़ना प्रारम्भ करने से पढ़ने लिखने का अभ्यास होने लगता है, कि अमुक किताब मैं पढ़ने लगा हूं; परन्तु मुमुक्षुओं को मुक्ति साधन

का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण दृष्टि गोचर नहीं होता; और न इस देश का किसी ने एकांक ऋजु अच्छा भी अच्छर्ग लोगों को निश्चय कर बतलाया :—

छन्द।

कोई कहता ध्यान लगाओ बनो वैरागी।
ग्रह द्वार छोड़ कर होव कर्म के त्यागी ॥
कोई कहता माला लेव होव अनुरागी।
अरु जपो निरंतर नाम भक्त पथ पागी ॥
कोई कहता चक्रन वेध जाय ब्रह्म रंदा।
पा जाय बुंद पीयूष मूल आनन्दा ॥
कोई कहता करिये योग कर्म गह धंदा।
आशक्ति हीन जन फँसते माहीं फंदा ॥
हैं अधिक पंथ उस अगम देश के जारी।
किस ओर जाँय हम चक्षु विहीन अनारी ॥
है अंध पुरुष की लकड़ी अति हितकारी।
गह लीजै अपने हांथ सत्य अधिकारी ॥
जब तक रहिहैं आचार मृपा-चारी के।
बिन निर्मल बुद्धी होंय कर्म सब फीके ॥
हैं सत्य हीन कर्तव्य स्वार्थ लपटाने।
नहिं सफल मनोरथ होय नीक मत माने ॥

(ग्रंथकार)

सब का बतलाया हुआ रास्ता एक हो भी नहीं सकता है। क्योंकि बुद्धि सबकी एक मत नहीं होती है। "हाथ कंगन को आरसी क्या"? कई मनुष्यों से किसी एक आशय अथवा समस्या पर लेख अथवा कविता बनवाया जाय, तो सब का एक रूप न होगा। किसी का गद्य, किसी का पद्य, किसी का प्रिय, किसी का अप्रिय, किसी का संक्षिप्त, किसी का विस्तृत, किसी का भाव सूक्ष्म, किसी का स्थूल, किसी का उथला, किसी का गम्भीर, किसी का सरल, किसी का असरल, किसी का अभिनव, किसी का प्रत्न, किसी का निरस, किसी का सरस, किसी का धीमा, किसी का तीव्र, किसी का प्रभावशाली, और किसी का अप्रभावशाली, इत्यादि समझना चाहिये, परन्तु आशय और इच्छा ध्वनि सब की एक होगी। एवं सर्व मत एक रूप नहीं हो सकते हां! सब का सिद्धांत एक हो सकता है। प्रकृति दो तुल्याकार पदार्थ कभी उत्पन्न नहीं करती। ऐसा होने से निदान का अभाव होता है। एतदर्थ जो कार्य एक बार हो जाता है, पुनः वैसा कभी नहीं हो सकता। आप एक अक्षर अपने हाथ से लिख दूसरा उसी अक्षर का फिर लिखना चाहें ऐनमैन कदापि नहीं बनेगा। आप कितना ही प्रयत्न क्यों न करें? और सैकड़ों वर्ष क्यों न लिखा करें? तब सब ग्रन्थों और महात्माओं कवियों का ठीक अनुमान ऐक्य क्योंकर हो सकता है। संसार में वृक्ष अनेक वर्ण के हैं, और एक वर्ण के अनेक वृक्ष होते हैं। एक वृक्ष में अनेक पत्र होते हैं, एक पत्र के तुल्य दूसरा पत्र दृष्टि नहीं आता है। पत्र का कोई न कोई अवयव अवश्य न्यूनाधिक होता है। परंतु एक विशेष पदार्थ। भाव कोई न्यून न होगा। जैसे 'अमरूद' का एक पत्र ले कर दूसरा पत्र समानाकार संसार भर के अमरूदों

में अनुसंधान करते रहिये नहीं मिलेगा, परंतु कटुरस सब में व्याप्त होगा,कटुरस रहित कोई प्रभद्र नहीं पाया जायगा। यद्यपि कड़वापन सब में एक समान. न हो ।

एवं जगत् प्रसिद्धि जितने मत हैं प्रभद्र सम जानना चाहिये । मतान्तर सगुण, निर्गुण, सनातन और आर्य्यादि तथा 'इसलाम' में वाहवी सुंनतादि शाखायें समझना चाहिए । संप्रदायें प्रति शाखायें अर्थात शाखाओं में छोटी शाखा समझना चाहिये । अनेक आचार्यों का अनेक प्रकार का उपदेश पत्र समझना चाहिये। अब देखिये! कि सब धर्म मत मतान्तरों के आचार्य्यों का उपदेश सत्य मय अवश्य होगा, जो सब निम्ब वृक्षों के कटुरस तुल्य है। जैसे कटुरस रहित कोई निम्ब वृक्ष नहीं होता है, वैसेही सत्य रहित कोई मत विदित नहीं होता है । सत्य का परि-त्याग शायद् किसीने किया होगा। जिसने किया होगा वह धर्म मत नहींहै, पर उसे भी थोड़ा बहुत अंश सत्य का अवश्य लेना पड़ा होगा। क्यों कि सत्यांश के ग्रहण बिना संसार में किसी का निर्वाह होना सम्भव नहीं हो सकता। एतावत सिद्धि हो सकता है, कि केवल सत्यतत्व ही सर्व मान्य सर्व प्रिय ऐकाधिपत्य संपन्न है; और समस्त कल्याण मार्ग में ऋजु मार्ग है। इस में एक और औत्कर्ष्य है, कि यह तत्व अंतः करण का ध्रुव धर्म है । अंतः करण सदैव इसी की अनुसंधान रखने का संकेत करता है ।

इति गीता सत्ययोग द्वितीय पोड़ समाप्तः।

तृतीय पोड़।

भक्ति की सजावट।

तदर्थं यम नियमाभ्यामात्म संस्कारो योगाच्चाध्यात्म विध्युपायैः (४-२-४६ न्याय दर्शने) ।

अर्थः—उस (मोक्ष) के लिये आत्मा का संस्कार करना चाहिये यम,नियम और अध्यात्म विद्याके अनेक प्रयत्नोंद्वारा।

सत्य तत्व आत्म कल्याण की संजीवनी मात्रा है। इसका सेवी स्थिर सुख प्राप्त कर सकता है। यह साधन विश्वास जनक प्रत्यक्ष प्रमान भी प्रगट करता है। जो मनुष्य इसके परायण होकर इसको सर्वस्व अर्पण करता है, तो यह उसकी वकील की भाँति सहायता करता है औरनिःसंदेह प्रवृत्ति वाद को पराजय करता है; परन्तु यह निश्चय,सहायता (पैरवी) उसकी करता है, जो उसको शुभाचरण रूपी द्रव्य देने की ध्रुव प्रतिज्ञा कर लेता है 'सत्य' संसार वासना रूपी विपिन में भूलेहुये अज्ञ रूपी अंध मनुष्यों को परम दयाल हृदय अनुपम देव है। अति सकष्ट प्राणान्तक परभी इसका प्रत्यवाय जिसको अप्रिय प्रतीत होता है, उसको तोयह 'कैवल्य' पुर तक उसकी लाठी पकड़ कर ले जाता है और मुक्ति मार्ग में जहाँ जहाँ वक्रस्थल, कङ्कड़, पत्थर और कण्टक इत्यादि आते हैं। तत्क्षण सूचित करता जाता है—

जब कोई मनुष्य किसी दुष्कर्म के करनेको तत्पर

होता है, अथवा करने की आकांक्षा करता है, तो सत्यात्मा प्रतिषेध करता है, कि ऐसा मत करो। जिस कर्म के करने में मन (आत्मा) स्वतः भय और सङ्कोच को प्राप्त हो समझना चाहिये, कि सत्यदेव (आत्मा) जो हमारा परमशुभ चिंतक है इसके न करने का आग्रह करता है— सत्यात्मा अद्भुत गुरू है, जो इसकी साक्षी से कर्म करता है, उसका सदा सुखी (मुक्ति) होना सिद्धही है। स्वध्येय पर डटे रहने के लिये, मनको इन्द्रिय-निग्रह की ओर बढ़ाने के लिये और आत्म स्वच्छता के लिये- 'इस बात की ध्यान में गहरी रेखा होना चाहिये, कि मन का जितना अंश जिस कर्म में संकुचित होता है, उतना ही अंश अपराध का शिर पर आवेठता है और औत्सुक्य प्रगट करता है'—। नाना प्रकार की जो वासना है वही रास्ता में कङ्कड़, पत्थर हैं। जिस कर्म के करने में प्रथम या पश्चात असत्य शब्दों का भयवश अथवा लज्जावश व्यवहार न करना पड़े, मन उस कर्म के करने में संकुचित नहीं होता है। यह विलक्षण रहस्य और प्रत्यक्ष प्रमाण भी है "हृदय कमल पानी में रहता है। दुष्कर्मों के अनुताप से पानी तप्त होता है और शुष्क होने लगता है। जिससे हृदय व्याकुल होता है।" शुभ कर्मों से ऐसा नहीं होता है। सत्कर्म हृदय को सुख प्रद हैं, दुष्कर्म हृदय को दुख प्रद हैं। दुष्कर्म दुख प्रद अवश्य है, परन्तु इन्द्रियाँ चिरस्थाई सुख का निर्णय न कर तत्क्षण सुख पर गिरती हैं। कठोपनिषद में कहा है:—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथ मेवतु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रह मेवच॥

इन्द्रियाणि हयाना हुर्विषयां स्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रिय मनो युक्तं भोक्तेत्या हुर्मनं षिणः॥१।३।३।४॥

अर्थः—शरीर को रथ, बुद्धि को सारथी, इन्द्रियां को घोड़े, मनको रस्सी (रास) और आत्मा को रथ का स्वामी जानो।

आशय यह है, कि चंचल घोड़े किसी प्रिय वस्तु का ध्यान कर ऊवट होने का ज्योंही साहस करते हैं, फटाक स्वामी सारथी को संकेत करता है, कि घोड़ों को रोको वह प्रतोली छोड़ना चाहते हैं। स्वामी के आदेश अथवा स्वक्षता से सारथी रासों को जोर से खींचता है, परन्तु अशिक्षित घोड़े जो होते हैं रथ को ऊघट घसीट ले जाते हैं और रथ कोभंग कर देते हैं। ऐसेही अज्ञान इन्द्रियां तत्क्षण सुख का ध्यान कर दुष्कर्म रूपी दुराध्वा में मनुष्य को गिरा देतीं हैं,—तत्क्षण सुख का भोग चिरकाल को दुखभोगना हो जाता है। जैसे पांच रुपया की चोरी महीनों की कैद, बला-त्कार से क्षणिक मैथुन का आनंद वर्षों का कारागार इत्यादि। जिसका मन कुत्सित कर्मों की ओर नहीं दौड़ता वह सदा सुखी होने को समर्थ है।

श्लोक—राग द्वेष वियुक्तैस्तु विषया निंद्रियेश्चरन्।
आत्म वश्यै र्विधे यात्मा प्रसाद मधिगच्छति।६४।
प्रसादे सर्व दुःखानाम् हानि रस्योपजायते।
प्रसन्न चेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्य वतिष्ठते।६५
(अध्याय २ गीता)

अर्थः—अंतः करण जिसके वश्य है अर्थात् अंतःकरण की साक्षी से जिसने काम किया है, वह विषय भोग करता

हुआ भी प्रसन्न रहता है। चित्त प्रसन्न रहने से उसके दुःखों का नाश होता है और उसकी बुद्धि शीघ्र स्थिर होती है।

जो अंतः करण के अप्रसन्नता कारक हीन कर्म नहीं करता है, वह परम प्रहृष्ट होकर अर्थात् निरीहचित्त सदासुखी रहता है। कुत्सित कर्माचारी मनुष्य सदैव सभय और विकल रहता है।

श्लोक— यथा दीपो निवा तस्थो नेङ्गते सोमपास्मृता।
योगिनो यत चितस्य युंजतो योग मात्मनः। (६-१९ गीता)

अर्थः—जैसे वायु रहित स्थान में दीपक नहीं हिलता है, वैसे ही (दुष्कर्म रहित अथवा विषय वासना रहित) जिसका चित्त वश है उस योगी का आत्मा निश्चल होता है।

सत्यभाषण से चित्त वृत्तियों का भी निरोध हो सकता है, क्यों कि वह सत्य सीमा के प्रबन्ध में असित होकर विषय वासना की प्रत्याशा से मुड़कर प्रतोप को प्राप्त होजाती है। आश्र का तात्पर्य चित्त की परम वशी करता है:—

योगश्चित्त वृत्ति निरोधः (१—२ योगदर्शने)

"चित्त की वृत्तियों का रोकना योग है", जिस कर्म में सत्य सीमा का उल्लंघन न हो, वही कर्म योगयुक्त प्रति पन्न होता है। संत आचार्यों के उपदेशों का यही सार सिद्धान्त पाया जाता है। सत्य धर्म के प्रतिपक्षी होकर कोई भी संसार समुद्र से पार नहीं हुये हैं। समस्त ज्ञानी विज्ञानी और भगवद्भक्तों का आचार सत्यमय देखा जाता है। 'महाभारत' महाग्रंथ का भी यही अभिप्राय है। युधिष्ठिर महाराज ने कभी असत्यवाद का उत्साह ग्रहण नहीं किया है। एक बार रण भूमि में द्रोणाचार्य से कहा था, कि

अश्वत्थामा मारागया……"नरो वा कुंजरो वा"। यह भी सशंकित होकर। जिसका यह प्रायश्चित्त हुआ, कि उन को क्षणमात्र नर्क देखना पड़ा और युद्धस्थल में सामान्य रथों की भाँति रथ चलने लगा। श्री कृष्ण-का गीता-उपदेश भी इसी ओर दृष्टि करता है। कृष्णभगवान् कहते हैं, कि कर्म न करने से कर्म करना श्रेष्ठ है। नितान्त कर्म का त्याग मनुष्य कर नहीं सकता है, क्यों कि मनुष्य को अपना जीवन निर्वाह के लिए कोई न कोई कर्म अवश्य करना पड़ेगा। ऐसी दशा में निष्काम कर्म योगयुक्त हो कर स्ववर्णोचित कर्म क्यों न किया जाय? निष्काम कर्म करने वाले कर्म की आशक्तता में लिप्त नहीं हो सके। जैसे पानी में कमल पत्र :—

श्लोक—ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोतिय: ।
लिप्यते नस पापेन पद्म पत्र मिवां भसा ॥
(५–१० गीता)

अर्थः-जो आशक्ति त्याग के ब्रह्म के लिये कर्म करता है वह उनकर्मों में ऐसे लिप्त नहीं होता जैसे पानी में पद्म पत्र

श्लोक—कर्मणैवहि संसिद्धि मास्थिता जनका दय: ।
लोक संग्रह मेवापि संपश्यन्कर्तु मर्हसि ॥
(३–२० गीता)

अर्थः-जैसे जनक आदि (सदाचारियों) ने कर्म कर के सिद्धता पाई है, वैसेही लोक संग्रह को देख कर तुझे भी कर्म करना चाहिये।

निष्काम कर्म क्या ? निर्+काम+कर्म (कामना रहित कर्म) निर् उपसर्ग के पश्चात् पहिला शब्द 'काम' है। 'काम' शब्द "कम्" धातु से बना है। इसका अर्थ कांति, इच्छा होता है। दूसरा 'कर्म' शब्द 'कृ' धातु से बना है जिसका अर्थ करना व्यापार इत्यादि होता है। जिस कर्म के करने में कोई इच्छा अथवा आशा उसके फल की न हो, उस कर्म को निष्काम कर्म कहते हैं। यही अर्थ निष्काम कर्म का गीता में विवक्षित है। जिस कर्म के करने में फल की कोई स्पृहा न होगी उस में असत्य स्पृश्य ही न होगा। जिस में कुछ स्वार्थ सिद्धि की आकांक्षा होगी, उस में स्वत्व कर कहना पड़ेगा। और स्वत्व के साथ असत्य का अवश्यकर्षण होगा जैसा युधिष्ठिर ने 'कुंजर' शब्द के साथ 'नर' शब्द का स्वार्थिक प्रयोग किया था। जिसका दोषारोप भी उन को हुआ। जिस कर्म को गीता निष्काम कर्म कहता है। यह ग्रन्थ उसी कर्म को सत्कर्म कह कर ऋजु बोध करता है। जैसे वैसन्दर से आग शीघ्रबोधक है।

सत्यही योग है। सत्यही ईश्वर की भक्ति है। भगवान् स्वयं सत्यमूर्ति हैं और सत्यता ही के कारण ईशत्व है। देखिये! किसी ग्रन्थ में भगवान् का न्याय प्रतिकूल क्या कोई आचार पाया जाता है? कहीं विशेष कारण से सत्य सीमा का उलङ्घन किञ्चित मात्र हो भी गया है, तो उसके प्रायश्चित्त ने भी आपका पीछा नहीं छोड़ा है। जैसे देव ऋषि नारद जी से कपट व्योहार का करना और उनसे शाप का पाना। यद्यपि नारद जी का अन्तिम परिणाम इसमें बुरा नही था। झूंठ बोलने और भजन करने

से इश्वर प्रसन्न नहीं होता है, किन्तु सत्य बोलने और भजन न करने से प्रसन्न होता है—यदि आप का नाम ' मोहन ' है कोई आप का लोटा चुरा कर मोहन-मोहन रटने लगे क्या आप उस चोर से प्रसन्न हो जायंगे ? नहीं —। ईश्वर का भजन क्या है? हमेशा ध्यान रखना कि ईश्वर सर्व व्यापी है, सर्वज्ञ द्रष्टा है, मेरा दुष्कर्म वह देखसकता है, इस से कोई दुराचार करने का विचार न करूँ। मुँह से रटने को स्मरण नहीं कहते हैं। तीर्थ करने, भजन करने, माला घुमाने, जटा बढ़ाने, ख़ाक चढ़ाने, और लम्बे चौड़े तिलक छाप इत्यादि से कुछ नहीं होता। जब तक, कि आचार शुद्ध न हो। सदाचरण युक्त होना ही परमेश्वर की सच्ची भक्ति है। बेईमान प्रियवादी नौकर किसी को प्यारा नहीं होता :-

न गौहर में वह है न है संग में, व लेकिन चमकता है हर रंग में।

(कोई शायर)

ईश्वर किसी व्यक्ति स्थान मन्दिर प्रभृत्ति में नहीं रहता है। इस बात को सब कोई जानते हैं, कि पत्थर कोई ' ईश्वर ' नहीं है ईश्वर की भावना पत्थर में की जाती है। प्राण प्रतिष्ठा का भी यही सिद्धान्त है। और मतलब उसका यह मालूम होता है, कि जैसे किसी प्रियोत्तमा (माशूका) की तसवीर के देखने से प्रेम का संसर्ग होता है। उसके हाव भाव कटाक्ष का दृश्य हृदय में झूलने लगता है, अथवा जब कोई अपने पूर्वजों के स्मार चिन्ह चबूतरा इत्यादि देखता है, तो उसे उनकी जीवन दशा का स्मरण हो जाता है। उनके शिष्टाचार क

अनुभव होने लगता है, किन्तु हृदय द्रवी भूत होकर अश्रुपात भी होने लगता है ।

एवं भगवान् 'रामचंद्र' या 'कृष्णचंद्र' जी की स्मारक मूर्ति के दर्शन से स्मरण होना चाहिये, कि यह बड़े सत्पुरुष, धर्मधर, धर्म संस्थापनार्थ सन्सार में हुये हैं। आप का सच्चरित्र रामायण, भागवत, और महाभारत इत्यादि सद्ग्रन्थों में वर्णित है । आप महाराजा दशरथ के पुत्र थे। आप के वियोग में आप के पिता ने सत्यदेव को प्राणार्पण कर दिये थे। पर जो वरदान आप की उपमाता को आप के पिता ने देने का प्रण किया था, कदापि उसके लिये नकार मुँह से नहीं निकाला था । और न आप को इस बात पर अप्रसन्नता हुई थी, किन्तु माता कैकई की आज्ञा अनुसार वन को चलदिये थे। आप के लघुभ्राता लक्ष्मण जी व सती सीता जी ने आप का साथ किया था। पुनः आपके उपमाता पुत्र, अर्थात् भ्राता 'भरत' ने अपनी मात को अधिक निंदनीय वचन कहे थे, और ऐसे अयोग्य राज्य को अंगीकार नहीं किया था—जिसे कैकई ने महा प्रयत्न रूप तासनी में अपने प्राणपति की प्राणाहुती से हस्तगत किया था। आप के समीप जाकर, आप की आज्ञा से आप की पादत्राणका (खड़ाऊँ) को राज्याधिकारी मानकर, सेवक के तुल्य साधु वेष में आप के अवध राज्य का, आप की अवधि पर्य्यन्त संरक्षण किया था। धन्य ! है आप को और आप के भ्रातृवर भरत को, लक्ष्मण को, सती सीता को व सत्य प्रतिज्ञ पिता दशरथ को । भगवन्! आप ओज-स्वरूप हैं, सगुण हैं, निर्गुण हैं, निराकार हैं, निर्विकार हैं, अखिल हैं, अनंत हैं, सच्चिदानंद हैं, अच्युत हैं, अनादि हैं, अनुपम् हैं, सर्व व्यापी हैं, त्रैताप नाशी हैं, और संसारमेंसे

मुक्ति देने वाले हैं। ऐसे ही श्री कृष्ण और अन्य देवताओं के भी प्रतीक से जानना चाहिये। किसी देवताका प्रतीक हो, वह यथार्थ देव नहीं है प्रतोक व्यक्ति उपासक के लिये पूत गुलाबी कैसे अज्ञान मनुष्योंको अटका है। प्रतीक दर्शनही दर्शन और चरणामृत की बूंदों से फली भूत नही होता है। दिन भर लोगों को धोखा देकर ठगने और संध्या सवेरे अथवा त्योहारों के दिन मंदिर इत्यादि उपासना ग्रहों में जाने से परमेश्वर का प्रसन्न करना और पापों की छूट चाहना असम्भव है।

रहस्य रासलीला और नाटक आदि मंडलियां भी सत्पुरुषों की सदाचार सूचक, उपदेशक मंडलियां हैं। इन के द्वारा बहुत आसानी से ज्ञान होता है।—जैसे सत्यवादी 'हरिश्चन्द्र' राजा के सच्चरित्र से कोई अभागा अपरिचित होगा?—क्यों कि गान विद्या जागता जादू है। इसका असर बहुत जल्द पड़ता है, और चित्त एका एक आकर्षित होजाता है। कोई२ इसके तात्पर्य्य को न समझकर इसके विरोधी होकर "घर घर उपदेश देते हैं" इस वाक्य के स्थल में 'भगवान् को घर २ नचाते हैं' यह कहने लगते हैं। हाँ! यह अवश्य होता है, कि अविद्या के कारण मंडली यथार्थ भाव नहीं दिखला सकती है। जिससे कुछ मूर्ख लोगों पर विपरीत प्रभाव पड़ने की सम्भावना हो सकती है।

व्यक्ति उपासना मार्ग में उपासना ग्रहों, देवालयों के अतिरिक्त ग्रह २ अपनी २ इच्छा या उपासना के अनुसार एक या कई देवताओं के प्रतीक भर २ सिंहासन, धातु के, पत्थर के, मिट्टी के, सीपों और शंखों समेत विराजमान रहते हैं! उनको पानी से धोने, भोजन बताने के सिवाय

अन्य प्रयोजन अधिकांश लोगों में नहीं पाया जाता है। इसका भी यही अभिप्राय मालूम होता है, कि प्रत्येक व्यक्ति अपने ग्रह का स्वामी परमेश्वर को जानकर सदाचार का संचालन करे। जैसे 'भरत' जी ने भगवान् 'रामचन्द्र' जी की पदत्राणका को राज्य सिंहासन पर स्थापित किया था, और अवध राज्य का स्वामी रामचन्द्र को मान कर आपने सेवक की भांति, रामचन्द्र जी की ओर से, अपना राज्य न समझ कर कैसा उत्तम विनीति और न्याय मय प्रबन्ध किया था, कि स्वयं रामचन्द्रजी से भी इतना श्रेष्ठ प्रबन्ध न होता—उदाहरणः-' एक किसी राजा का मन्त्री परमदयालु और न्यायशील था। उसे अपने अत्याचार (जुल्म) का अत्यन्त भय था. कि कोई अन्याय कर्म भूल कर भी मुझसे न हो जाय। इस कारण उसने अपनी याद दाश्त के लिये एक संदूक में, अपनी प्रथम दरिद्र-दशा के पहनने के फटे कपड़े और टूटे लतड़े जूते के नित्य कर्म में बांध लिये थे। जिनको प्रतिदिन सवेरे संदूक खोलकर वह देख लिया करताथा। तत्पश्चात् न्यायालय को गमन करता था, जिससे उसको मामलों मुकद्दमों में न्याय पूर्वक निर्णय करने का ध्यान रहता था '—जब कि महराजा 'रामचन्द्र' ने स्वयं सत्यशील कर्म संसार में किये हैं, अथवा कृष्णचन्द्र या अन्य देवताओं ने-जिनकी मूर्तियां आप के या हमारे ग्रह सिंहासन पर स्थित हैं। उनकी प्रसन्नता पूर्वक हमको अपने ग्रह राज्यका न्याय मय अनूपा शुभ प्रबन्ध करना चाहिये। न, कि, उन सदाचारी परमेश्वरकी अप्रसन्नता कारक-'लोगों को धोखा देकर असत्य मामलों में फ़साकर या फ़साने की धमकी देकर रिसवत इत्यादि से, या अपने २ व्यापार सम्बन्धी चोरी करके ग्रहस्थ धर्म का पालन करना'। दुष्कर्मों

का करना, गृह में भगवान्-प्रतीक का स्थापित करना, भग-वान के सन्मुख पाप करना है। जो औरभी शीघ्र घोर अधो-गति का देनेवाला धर्म है 'सरासर पाप मूलक कर्म है'। भगवान् मिष्ठान, पुष्प दूर्वा इत्यादि से प्रसन्न नहीं होते। सत्य शील सदाचार से प्रसन्न होते हैं। हम आधुनिक लोग भगवान् को भी रिसवत लेना सिखा रहेहैं। यदि एक रुपया अन्याय से कमा लेते हैं, तो चार आने की मिठाई किसी देवता या पीर को अर्पण कर दिया करते हैं। तथा अधिक प्राप्ति पर सत्यनारायण की कथा या मौलूद् शरीफ सुन लिया करते हैं, जिससे आक़वत में नतीजा खराब नहीं होता। वह देवता या पीर मिठाई की लालच से हमारे खोटे कर्म की आक़वत को शिकायत नहीं भेजते। या यों कहिये, कि वरवक्त तहक़ीकात झूठी गवाही दे देते हैं।

देखिये:—

"बुद्धि पूर्वा वाक्य कृतिर्वेदे ।१।
अर्थः—वेद में वाक्य रचना बुद्धि पूर्वक है

ब्राह्मणे संज्ञा कर्म सिद्धि लिङ्गम् ॥२॥
अर्थः—ब्राह्मण (एतरेय आदि ग्रंथ) में संज्ञा कर्म (ज्ञान पूर्वक कर्म) सिद्धि चिन्ह है।

बुद्धि पूर्वो ददातिः ॥३॥
अर्थः—दान क्रिया बुद्धि पूर्वक है।

तथा प्रति ग्रहः ॥४॥
अर्थः—और (दान) लेने का भी।

आत्मान्तर गुणा नात्मान्तरेऽकारणत्वात् ॥५॥

तद् दुष्ट भोजने न विद्यते ॥६॥

भावार्थः-दाता और ग्रहीता दोनों को दुष्ट भोजन का फल प्राप्त नहीं होता।

दुष्टं हिंसा याम् ॥७॥

अर्थः-हिंसा का भोजन दुष्ट है।

तस्य समभि व्याहार तो दोषः ॥८॥

अर्थः-उसके समभि व्यवहार से अर्थात् खाने खिलाने से दोष लगता है।

तदऽदुष्टते न विद्यते ॥९॥

अर्थः-वह दुष्टता रहित में नहीं है।

पुन र्विशिष्टे प्रवृत्तिः ॥१०॥

अर्थः-फिर उत्तम भोजन में प्रवृत्ति होना चाहिये।

समे हीने वा प्रवृत्तिः ॥११॥

अर्थः-अथवा साधारण,हीन (भोजन) में प्रवृत्ति होना चाहिये।"

भाव यह है कि दुष्ट भोजन की हलुवा पूड़ी उत्तम नहीं, सत्व भोजन की सूखी रोटी अत्योत्तम है।

"एतेन हीन समविशिष्ट धार्मिकेभ्यः परस्वादानं व्याख्यातम्॥ १२॥

अर्थः- इससे व्याख्यात है कि अधम (गरीव) मध्यम (म ध्यमी) उत्तम (वड़े) धार्मिक पुरुषों के प्रतिग्रह (दान) का ग्रहण करना चाहिये।"

(अ० ६ आ० १ वैशेषिक दर्शने कणादि मुनि प्रणीते)

संक्षिप्तभाव यह है, कि अन्याय द्वारा प्राप्त हुये द्रव्य अथवा भोजन का दान भी पाप है। यही कारण स्पृश्या-स्पृश्य के प्रचार का है। जो इस समय वहुत वढ़ जाने से वास्तविक तात्पर्य उसका नष्ट भ्रष्ट हो गया है। ध्यान दीजिये! महाराजा रामचंद्र जी ने धार्मिक शवरी के चाखे हुये वेर सत्कार पूर्वक ग्रहण किये थे। अव कहिये जव वेद में ऐसा वक्ष्यमाण है, तो हमारा किसी को धोखा देकर चोरी अथवा अन्याय से कमाया हुआ भोजन क्या भगवान्के अर्पण योग्य हो सकता है? जिसका दान करना भी देने वाले, लेने वाले दोनों को अपराध है।

पद-देव अर्चन का सुनो विधान वतावें पूरे संत सुजान। टेक॥

यावत क्रीया हस्त की, हिंसा तो यक नाय।

सो सव सेवा देव की, वर्णन करी न जाय॥ देव अर्चन०

ज्यों ज्यों पग आगे वड़े पीछे हटे विचार।

परिक्रमा ही देव की, होती है हर वार। देव अर्चन०

मुख से जो निकले वचन, होवे प्रिय निष्काम।

सवही देव की वंदना, जानों निर्भय राम॥ देव अर्चन०

प्रारब्ध से जो करे, खान पान निर्द्वन्द ।
तिसी भोग मे होत है, देव परम आनन्द ॥देव अर्चन०
इन्द्रिय मन का जो विषय, ताही करो प्रणाम ॥
सोइ देव को अङ्ग है, सोइ देव को धाम ॥ देव अर्चन०
जीवमात्र सों प्रेम हो, भेद बुद्ध बिसराय ।
बड़ी भक्त है देव की, या में संशय नाय ॥ देव अर्चन०
सब में सबसों है अलग, अस्ति भांति प्रिय रूप ॥
कर विचार योंहि देव का, जिमि सूरज और धूप ॥देव अर्चन०
अन्तर बाहिर स्वास पर, रहे सुरत आरुढ़ ॥
याहि देव का जाप है, अति पावन अति गूढ़ । देव अर्चन०
खमाकार बुद्धी करो, नाम रूप भ्रम टार ।
यही देव की धारणा, निर्मल अचल अपार ॥ देव अर्चन०
सम हो साक्षी भाव में, विसर जाय अनुमान ।
सर्वो परि यांहि देवका, बतलाते हैं ध्यान ॥ देव अर्चन०
साक्षी स्वयं स्वरूप में, अन्तर्ध्यान हो जाय ।
यही मिलन है देव का, कहैं समाधी ताय ॥ देव अर्चन०
या विधि पूजन देव का, निर्भय करो जरूर ।
ना कछु हठना नेम है, ज्ञान होय भर पूर ॥ देव अर्चन०

(निर्भय विलासे सफा ४१)

कर्म धंदा छोड़ने, नाना प्रकार की बहु रूपी के तुल्य शक्ल बनाने, वैरागी सन्यासी बनने, द्वार २ भीख माँगने और

महन्त पुजेरू बनने, से क्या होसकता है ? जब तक कि आचार शुद्ध न हो। भेप साधू को बनाना, आचार धूर्तों का करना परमात्मा को धोखा देना है। और सिद्ध प्राप्ति निमित्त व्यर्थ उद्योग करना है। यदि नपुंसक अंगुली डालकर अपनी स्त्री से सन्तानोत्पत्ति की सम्भावना करे, तो क्या उससे मनोर्थ सफल हो सकता है ? यह निरर्थक प्रयत्न है, प्रत्युत कामिनी को क्रोधित करना है-सत्यशील मनुष्य ही संसार में सच्चे वैरागी हैं:-

पद—आला वह दुर्वेश कहावे।

दृढ आसन सन्तोप का खप्पर, सत्य लंगोट चढ़ावे।
प्रेम की सेली ध्यानका आसा, ज्ञान भभूत रमावे॥ आला०
दया धर्म है जटा बांधके, समता तिलक लगावे।
अजपा जाप सूरत सों लावे, घट में अलख जगावे॥आला०
अन्तर धूनी लगा यतन सों, प्राण पवन ठहरावे।
सहजहि सहज नेम कर फूंके, ब्रह्म अग्नि परचावे॥आला०
तीन ग्रन्थि षट् चक्र नवेवे, दशम द्वार तक जावे।
उलट नैन निरखै छवि, निर्भय सतगुरु भेद बतावे॥आला०

श्लोक—अनाश्रितः कर्म फलं कार्यं कर्म करोतियः।
ससन्यासीच योगीच न निरग्निर्नचाक्रियः।१।६। गी०

अर्थः-जो फलासे रहित करने योग्य कर्म को करता है, वही सन्यासी और योगी है, निरग्नि और अक्रिय नहीं है।

कोई धर्म साधन या मोक्ष साधन विना सत्य संयम के ऐसा निरर्थक है, जैसे 'वस्त्र हीन स्त्री का सुन्दर शृंगार

इस तत्व के विषय में कहाँ तक कहा जाय ; हमारा यहाँ तक अनुमान है, कि सत्य प्रतिज्ञ पुरुषों को किसी अन्य धर्म, अथवा अनुष्ठान की ओर ध्यान देने की कुछ आवश्यकता ही नहीं है , जैसे., पतिव्रता स्त्रीको ; परंतु, योगादि साधनों का इस से निषेध नहीं समझना चाहिये; क्योंकि वह औषधि के तुल्य असामान्य नहीं हो सकते:—

दोहा—सांच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप।
जाके हिरदे सांच है, ताके हिरदे आप॥

(तुलसीदास)

चौ०-धर्म न दूसर सत्य समाना। आगम निगम पुराण बखाना॥

(तु० रामायणे)

जिसने सत्य धर्म का पालन किया, उसने सब धर्म फल पा लिया, सत्य के समान अन्य धर्म संसार में नहीं है। जिसने सत्य धर्म का विमोक्षण किया, उसने मानो अधर्म पक्ष का सम्पूर्ण फल बटोर कर एकत्र कर लिया। सत्य मोक्ष की जड़ है, जो कोई इस जड़ का पोषण करता है, वह उस के फल को भी पाता है।

दो०-एक साधे सब सधत है, सब साधे सब जाय।
जो कोई सींचे मूल को, फूले फले अघाय॥

(कोई कवि)

बहुत साधनों के मार्ग में बुद्धि को दौड़ाने से बुद्धि थक जाती है, और अकचका जाती है, कि नवधा भक्ति में कौन

सी भक्ति करूं ? सगुण उपासना श्रेष्ठ है या निर्गुण ? "राम" को भजूँ अथवा "कृष्ण" को, कर्म सन्यासी बनूँ या कर्म योगी? ऐसी ऐसी अनेक दुविधा में न पड़ कर शुद्धचित्त केवल "सत्य बोलना" कितना सरल, संक्षेप, और श्रेयस्कर धर्म है, यदि कामातुर मनुष्य के समक्ष बहुत सी चंद्र-मुखी स्त्रियां उपस्थित करदी जाँय, तो वह इस को पकड़ूं, अथवा उसको, यही विचार करता करता काम स्खलित हो जावेगा:-

श्लोक—व्यवसायात्मिका बुद्धि रेकेह कुरु नंदन।
बहुशाखा ह्यनं ताश्च बुद्धयोऽव्यव सायिनाम् ॥
(२–४१ गी०)

अर्थ:- श्री कृष्ण भगवान् अर्जुन को कर्म योग में नियुक्त करने के लिये कहते हैं, कि—हे कुरु नन्दन! व्यवसायात्मिक बुद्धि अर्थात् व्यवसाय-बुद्धि (निश्चयात्मिक बुद्धि)—जो बुद्धि किसी कार्य्य का निश्चय करने वाली है, कि यह काम करने योग्य है या नहीं 'एक' अर्थात् एकाग्र होना चाहिए। व्यवसाइयों की बुद्धि बहुत शाखाओं वाली होती है।

भावार्थ:—निश्चय करने के लिये बुद्धि (इन्द्रिय) एकाग्र होना चाहिये, जिनकी बुद्धि एक (स्थिर) नहीं है, उनके विचार भी स्थिर नहीं है, अर्थात् उनके मन में क्षण २ में अनेक प्रकार के सुसङ्कल्प कुसङ्कल्प उठा करते हैं।

जब हम सनातन धर्म की पुस्तकें देखते हैं, तो सनातन धर्म अच्छा समझते हैं, जब आर्य्य सामाजिक ग्रंथ देखते हैं, तो समाजी होना चाहते हैं; ईशाइयों की पुस्तकें देख ईशाई होने की इच्छा करते हैं; इसलाम को देखकर इसलाम

इख्त्यार करना चाहते हैं ; और जैन ग्रंथ देखकर जैन मतपर रुचि करते है ; परंतु असल तत्व 'सत्य' जो सब मतों का प्राण है, उसकी तरफ झांकते भी नहीं हैं । 'मत' कोई सा हो सब मुक्ति प्रदान होसकते हैं; परन्तु 'सत्य कर्तव्य' पर दृढ़ता होना चाहिये । सत्य परायण मनुष्य की बुद्धि व्यग्र नहीं हो सकती ; क्योंकिवह सत्यध्वनि में निश्चल होकर स्वयं व्यवसायात्मिक ही विभूषित है । हम सत्य प्रतिज्ञ पुरुष को योगी, यती, सती, सन्यासी, भक्ती, महात्मा , और धर्मात्मा इत्यादि कहना अनुचित नहीं समझते हैं । गीता रहस्यकार लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने 'सत्य' के लिये इस प्रकार लिखा है :—

" (अहिंसा के पश्चात्) " दूसरा तत्व " सत्य " है, जो सब देशों और धर्मों में भली भांति माना जाता है और प्रमाण समझा जाता है । सत्य का वर्णन कहाँ तक किया जाय ? वेद में सत्य की महिमा के विषय में कहा है कि, सारी सृष्टि की उत्पत्ति के पहले 'ऋतं' और 'सत्यं' उत्पन्न हुये , और सत्य ही से आकाश , पृथ्वी , वायु आदि पञ्च महा भूत स्थिर हैं:—

"ऋतञ्च सत्यंचा भीद्धात्त पसोऽध्य जायत" (ऋ १०—१९०—१), " सत्ये नोत्त भिता भूमिः " (ऋ १०—८५—१) 'सत्य' शब्द का धात्वर्थ भी यही है—'रहने वाला' अर्थात् " जिसका कभी अभाव न हो " अथवा 'त्रिकाल अबाधित, इसीलिये सत्यके विषय में कहा गया है कि, सत्य के सिवा और धर्म नहीं है , सत्य ही परब्रह्म है '। महाभारत में कई जगह इस वचन का उल्लेख किया गया है , कि 'नास्ति सत्यात्परो धर्मः' (शां० १६२–२४) और यह भी लिखा है कि :—

श्लोक—अश्वमेध सहस्रंच सत्यंच तुलया धृतम् ।
अश्वमेध सहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते ॥

"हजार अश्वमेध और सत्य की तुलना की जाय तो सत्य ही अधिक होगा (आ० ७४-१०२) यह वर्णन सामान्य सत्य के विषय में हुआ। सत्य के विषय में मनुजी एक विशेष बात और कहते हैं (४-२५६) :-

श्लोक—वाच्यर्थ नियताः सर्वे वाङ् मूला वाग्विनिः सृताः ।
तांतुयः स्तेन येद्वाचं स सर्वस्तेय कृन्नरः ॥

"मनुष्यों के सब व्यवहार वाणी से हुआ करते हैं। एक के विचार दूसरे को वताने के लिये शब्द के समान अन्य साधन नहीं है। वही सब व्यवहारों का आश्रय-स्थान और वाणी का मूल होता है। जो मनुष्य उसको मलिन कर डालता है, अर्थात् जो वाणी की प्रतारना करता है, वह सब पूंजी ही की चोरी करता है"। इसलिये मनु ने कहा है कि 'सत्य पूतां वदेद्वाचं' (मनु० ६-४६) जो सत्य से पवित्र किया गया हो, वही बोला जाय। और और धर्मों से सत्य ही को पहला स्थान देने के लिये उपनिषद् में भी कहा है "सत्यं वद। धर्मंचर" (तै० १-११-१) जब वाणों की शय्या पर पड़े पड़े भीष्मपितामह शान्ति और अनुशासन पर्वों में, युधिष्ठिर को सब धर्मों का उपदेश दे चुके; तब प्राण छोड़नेके पहले 'सत्येपुयति तव्यंवः सत्यं हो परमं बलं" इस वचन को सब धर्मों का सार समझ कर उन्हो ने सत्य ही के अनुसार व्यवहार करने के लिये सब लोगों को उपदेश किया है (म० आ० अनु० १६७-५०)। बौद्ध और ईसाई

धर्मों में भी इन्हीं नियमों का वर्णन पाया जाता है।"

(गी० र० पृष्ठ ३२)

सत्य धर्म कोई दयड़ू घुसड़ू धर्म नहीं है। सर्वोपरि, सर्व शिरोमणि, सर्व मान्य, सर्व देवताओं का आभूषण, किन्तु पूर्वोक्त गीता रहस्य न्याय से सत्य ही परब्रह्म है, तो अब सब कुछ यही है। जिसने सत्य को सिद्ध कर लिया है, उसने "परब्रह्म" को भी पा लिया है। "होगया प्राप्य जब प्राप्त रहा क्या पाना, आगया मूल जब हाथ रहा क्या आना"। सत्य के विषय में मुझे एक और भी बड़ी सुगमता ज्ञात होती है कि, सत्य प्रतिज्ञ पुरुष को अन्य साधनों की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि नवधा भक्ति और अष्टांग योग साधन सब इसी के अनुयायी और सत्य बुद्धिके प्रकाश निमित्ति पाये जाते हैं। "सब साधन सत्याग्रह के पुँछ लगे ऊँट हैं, जिसका वर्णन आगे किया जाता है। 'सत्य' सुनने में, सुनाने में, समझने, और समझाने में सरल है। साधन भी कठिन नहीं है। बालबुद्धि से लेकर वृद्धबुद्धि पर्य्यन्त चारोंवर्ण, अथवा अन्य जाति, जो चाहे इसपर आरूढ़ हो सकते हैं। इसी लिये कहा जाता है, "कि अंध की लकड़िया और मोक्ष को वकील, लोटे के हाथ में ऊँट की नकेल"। आम के आम और गुठिलियों के दाम, जानकर न समझे उल्लूका गुलाम।" विवेकी को दिन अविवेकी को रात, चिड़ियायें भी चहचहाने लगतीं हैं। ज्ञानके प्रभात्।

इति गीता सत्य योग तृतीय षोड़ः

चतुर्थ पोड़।

योग की बनावट।

स्थिर सुख आसन मिति न नियमः (२४) ध्यानं निर्विषयंमनः (२५)
(अ० ६ सांख्य०)

अर्थः—यह नियम नहीं है, कि स्थिर सुख आसन ही है, वही ध्यान है जिस से मन विषयों से रहित हो।

स त्य को योग के अष्टांगो के प्रथम अंग 'यम' के भेद में अहिंसा के पश्चात् दूसरा स्थान महर्षि 'पातांजलि' ने दिया है; और भी कई जगह दूसरा ही स्थान सत्य का पाया जाता है:—

यम नियमाऽसन प्राणायाम् प्रत्याहार धारणा ध्यान समाधयो ष्टावङ्गानि (२—२६ योग०)

अर्थः-यम, १ नियम, २ आसन, ३ प्राणायाम्, ४ प्रत्याहार, ५ धारणा, ६ ध्यान, ७ औरसमाधि, ८ यह अष्ट अङ्ग योग साधन के हैं

अहिंसा सत्याऽस्तेय ब्रह्म चर्य्याऽपरिग्रहा यमाः (२—३० यो०)

अर्थः-अहिंसा, १ सत्य, २ अस्तेय, ३ ब्रह्मचर्य्य, ४ और अपरिग्रह ५ ये यम हैं।

शौच सन्तोष तपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि नियमाः
(२-३२ यो०)

अर्थः—शौच, १ सन्तोष, २ तपस्, ३ स्वाध्याय, ४ और ईश्वर प्रणिधान ५-ये नियम हैं।

अब देखिये! कि 'हिंसा' शब्द अपना कर्तव्य हिंसत्व (तामस) त्यागकर सात्वक वृत्ति धारण कर अर्थात् "अव्ययी भाव समास" बनकर यहाँ यम के प्रथमास्थान पर विराज मान हुआ है——इस को यदि हम रस्सी रूप मान लें तो अनौचित्य न होगा; क्यों कि वास्तविक स्वरूप इस का हिंसात्मक है, इस से अपना नितान्त कर्तव्य त्याग नहीं करेगा; जैसे, नीम मिठाई, के साथ कड़आपन नहीं छोड़ता, पट्टआ रस्ली बनकर भी अपना बन्धक कर्म नहीं त्यागता— 'सत्य' शब्द इसी स्थान को है; क्यों कि इस का स्वरूप किसी समास इत्यादि द्वारा परिवर्तन नहीं हुआ है, और न इसने अपने धात्वर्थ को त्यागा है। इस से इस को हम श्रेष्ट मान-कर आगे राजा के रूपक में राजा, और यहाँ (पुंछ लगे-उष्ट्र के रूपक में) पहला उष्ट्र नियत करके, वह अहिंसारूपी रस्सी की नकेल बांध कर——अहिंसा रूपी रस्सी के बिना सत्य उष्ट्र का आग्रह नहीं हो सकता, क्यों कि जब तक मनुष्य का हृदय हिंसात्मक रहेगा सत्य का प्रवेश (गुज़ारा) वहाँ न होगा। हिंसा क्या है? मन, वचन, और कर्म से किसी को दुःख देना; झूठ बोल कर धोखा देकर किसी को ठगना; अथवा किसी को गालियां देने, मारने, या मन में इस भांति की चिन्ता करने, कि मैं अमुक मनुष्य को कोई हानि पहुंचाऊंगा। स्वयं ऐसा करूंगा, या किसीसे कराऊंगा,

अथवा कोई ऐसा करेगा, तो उसका अनुमोदन करूंगा, तथा किसी के दुःख - दर्द पर मुदित होना, इत्यादि सामान्य: व्याख्या अहिंसा की है। योग दर्शन में कहा है:—

"अहिंसा प्रतिष्ठाम् तत्सन्निधौ वैर त्यागः (२–३५)"

"अर्थात् अहिंसा में प्रतिष्ठा (स्थिति) होने से वह वैर रहित होजाता है"। जो किसीसे वैमनस्य नहीं करेगाउसके सब मित्र हैं; यदि मित्रता में हमने थोड़ा भी झूठ कह दिया मित्रता छू हो गई; जैसे, दूध, पानी, और झूठ रूपी खटाई। अतः निश्चय होता है, कि असत्य वाद हिंसा है; सत्यशील मनुष्य हिंसक नहीं होसकता।—बतलाते हैं, कि सत्य रूपी उष्ट्र की पूंछ से नियम रूपी उष्ट्र, नियम रूपीउष्ट्र की पूंछ से आसन रूपी उष्ट्र, आसन रूपी उष्ट्र की पूंछ से प्राणायाम रूपी उष्ट्र, प्रणायाम रूपी उष्ट्र की पूछ से प्रत्याहार रूपी उष्ट्र, प्रत्याहार रूपी उष्ट्र की पूंछ से धारणा रूपी उष्ट्र, धारणा रूपी उष्ट्र की पूछ से ध्यान रूपी उष्ट्र, और ध्यान रूपी उष्ट्र की पूंछ से अन्तिम समाधि रूपी उष्ट्र सहज ही बांध लीजिये; फिर सत्य कर्म रूपी सामान संसार रूपी बाज़ार से खरीद कर आठों उष्ट्रों पर लादकर, सत्य नगर को ले जाइये। और असीम लाभ प्राप्त कर सदा सुखी हो जाइये। सत्य नगर में सत्य वस्तु बहुत मँहगी मिलती है; क्यों कि ऐसे व्यापारी वहाँ बहुत थोड़े पहुंचते हैं। असत्य वस्तु का वहाँ कोई ग्राहक नहीं है। ईश्वर ने संसार ही में कर्म व्यापारका बाज़ार नियत किया है। यहाँ से जो जैसा कर्म भरकर ले जाता है, वह वैसा उस से लाभ उठाता है। ईश्वर किसी को कर्म:

व्यापार में हस्तक्षेप नहीं करता है। जो जिस को प्रिय हो करे, और वही स्वकर्तव्य का फल भी उठावे।
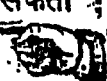
'सत्य' सब साधनों का राजा है। केवल राजा के प्रसन्न करलेने से, जैसे अन्य सेवकों के प्रसन्न करने के लिये सेवा करने की आवश्यकता नहीं रहती है; वैसेही अन्य साधनों की विशेष आवश्यकता सत्य संयमी को नहीं रहती है। सत्य संयम से अन्य संयम स्वयं सधने लगजाते हैं:—

चौ० सिमिट२ जल भरहिं तलावा, जिमि सद्गुण सज्जन पंह आवा

(तु० रा०-कि० का०)

जैसे, तमाशा शुरू होने पर, तमाशा देखने वाले स्वयं आने लगजाते हैं; सूर्योदय होने पर, लोग स्वतः काम करने लगजाते हैं: दीपक जलाने पर, पतिंगे स्वतः दीपक के पास आ आकर प्राण न्योछावर करने लगजाते हैं; भोजन मेदा में प्रविष्ट होने पर, सबस्नायु चेष्टा युक्त हो जाते हैं; और भोजन का रस अपने २ स्थान को ले जाकर बलिष्ठ करते हैं। एव मेव भक्ति साधन, ज्ञानसाधन, और योग साधन इत्यादि सब स्वतः समीप दौड़ने लगते हैं। कइयों को न हो, कि सत्य क्यों सब साधनों का राजा माना गया, वह तो अहिंसा के पश्चात् दूसरे स्थान पर है; अथवा अन्य साधन क्या कम हैं? मान लीजिये, "कि सात्वक रूपी एक साम्राज्य है; अहिंसा वहां की मंत्री है; और सत्यदेव राजा है—अन्य साधन यम नियमादि

इस राजा के अन्य सम्बन्धी 'पथक दार' (जागीदार) है"। अहिंसा के पक्ष में यहाँ वही पूर्वोक्त फिर भी अयौक्तिक नहीं है, परन्तु वहां उष्ट्र पशु का सम्बन्ध था, यहाँ मनुष्य सम्बन्धी है। क्या मनुष्य की नाक में भी अहिंसा रूपी रस्सी की नकेल डालदी जावेगी? नहीं, नहीं, 'हिंसा' शब्द रूपी व्यक्ति ने अव्ययी भाव समास श्रेणी का " अ " परिक्षा पत्र (सारटी फिकट) प्राप्त कर लिया है, इस योग्यता के कारण महाराजा सत्यदेव ने मंत्री बना लिया है, अर्थात् 'हिंसा' ने असत्य भाषण त्याग दिया है, इस कारण उसने मंत्री का पद पाया है। यह हम पूर्व में प्रमाणतः सिद्ध कर चुके हैं, कि असत्यता भी हिंसा है। सत्य विषय की परीक्षा में उत्तीर्ण मनुष्य सम्राट 'सत्यदेव' का कृपा पात्र होता है; जैसे, महाराजा हरिश्चन्द्र, दशरथ इत्यादि "सत्य धारी" सत्य परीक्षा में निष्तीर्ण (फ़ेल) नहीं हुये। हाँ, एक बात और भी कहने को रह गई; कि हिंसात्मक पुरुष क्यों मंत्री के पद पर नियत किया गया? यद्यपि उसने परीक्षा में सफलता प्राप्त कर ली है, तथापि वह कटुत्व की भांति अपनी क्रूरता (कड़वापन) न छोड़ेगा, प्रजा को दुःख प्रद उसकी स्थिति होगी? यह प्रश्न उचित है। परन्तु वह मंत्री प्रजा को अहित नहीं कर सकता है, क्यों कि वह व्यक्ति-मात्र पुरुष है, उसको ज्ञान है, वह दुष्टों को दंड देगा, सज्जनों से प्रसन्न होगा; जैसे, रावण का भाई विभीषण। मंत्री को सब विषय में प्रवीण होना चाहिये; जैसे, शतरंज का वज़ीर सब चाल चलता है। राज्य की स्थिति भी मंत्री से होती है, इससे प्रथम स्थान अहिंसा (मंत्री) को कोश में दिया गया है।

एवं यह अहिंसा और सत्य के विषय में वर्णन किया गया। इसके अतिरिक्त "अस्तेय" इत्यादि शेष सब साधन इसलिये सत्य के आश्रय हैं, कि सत्य के ग्रहण किये बिना कोई साधन साधक को साध्य नहीं हो सकता; क्यों कि "झूठे को कोई जगत में करे प्रतीत न भूल" एतावन मात्र, कहना तो अधिक है। बिना आधार के लक्ष्य नहीं खींचा जा सकता। नहीं, नहीं! यह सामान्य है"। विशेषतः योग उल्लिखित साधनों के क्रम पूर्वक वर्णन किया जाता है, जिससे निश्चय हो सकताहै, कि आत्मिक सत्याग्रह से सब साधन स्वयं सधने लगते हैं:-

योगाङ्ग	पाताञ्जलि योगानुकूल सत्य विवरण।
१ यमः—	
(क) अहिंसा—	अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैर त्यागः (२—३५) अर्थः—जब योगी हिंसा नहीं करेगा तो वैर रहित हो जायगा। (सत्य भक्त अहिंसक होगा। जैसा कि पूर्व में वर्णन किया गया है)
(ख) सत्य—	सत्य प्रतिष्ठायां क्रिया फला श्रयत्वम्। (२—३६) अर्थः—सत्य में प्रतिष्ठा होने पर क्रिया फल आश्रय हो जाता है। (यह विषय ग्रंथ प्रधान है)

(ग) अस्तेय- अस्तेय प्रतिष्ठायां सर्व रत्नो पस्थानम्
(२—३७)
अर्थः-स्तेयमें प्रतिष्ठा होनेसे सर्व रत्न उपस्थित हो जाते हैं।
(सत्य प्रतिज्ञ मनुष्य चोर नहीं हो सकता, जो चोर होगा, वह सत्य वादी नहीं हो सकता)

(घ) ब्रह्मचर्य- ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठायां वीर्य्य लाभः
(२—३८)
अर्थः-ब्रह्मचर्य धारण करने से वीर्य्य का लाभ होता है।
(सत्य प्रतिज्ञ व्यभिचार नहीं करेगा; यदि करेगा,बहुतसे लड़ाई झगड़े खड़े होंगे-खोपड़ी फूटेगी। खोपड़ीकी रक्षा करना चाहेगा,असत्य कहेगा,बात बनावेगा, स्त्रियों को मोहित करने केलिये भी नाना प्रकारकी झूठ कहना पड़ेगी। इस लिये ब्रह्मचर्य का लाभ सत्य से हो सकता है। ब्रह्मचर्य बल बर्द्धक है)

(ङ) अपरिग्रह- अपरिग्रहस्थैर्ये जन्म कथन्ता सबोधः
(२—३९)
अर्थः-अपरिग्रह की स्थिरता मेंज न्म का बोध होता है, कि कैसे हुआ।
(सत्य संयमी को परिग्रह न होगा,वह स्वयं प्रतोषी है। जो उस सत्यमें कर्तव्य उचित होगा और ऐसी;

क्योंकि वृत्ति से जो प्राप्त होगा, उसीमें संतुष्ट रहेगा। परिग्रह से सत्य में विघ्न होगा)

२ नियमः—

(क) शौच— शौचात्स्वाङ्ग जुगुप्सा परैर संसर्गः (२—४०)

अर्थ-शौच से स्वांग की जुगुप्सा, अन्यों से संसर्ग छूटता है।

सत्त्व शुद्धि सौ मनस्य काग्रेन्द्रिय जयात्म दर्शन योग्य त्वानिच (२—४१)

अर्थः-सत्व की शुद्धि, मनकी भलाई, एकाग्रता, इन्द्रियों का जीतना, और आत्माके दर्शनकी योग्यताभी होतीहै।

(शौच सबको करना उचित है इससे स्वास्थ्य रक्षा होती है "तन्दुरस्ती हज़ार न्यामत")

(ख सन्तोष)— सन्तोषा दनुत्तम सुख लाभः (२—४२)

अर्थः-सन्तोषसे अनुत्तम सुखका लाभ होता है।

(सत्य प्रतिज्ञ सत्य पांस में बंधा हुवा स्वयं सन्तोषी है)

(ग) तपस्— कायेन्द्रिय सिद्धिर शुद्धि क्षयान्तपसः (२—४३)

अर्थः-तपसे अशुद्धियों का क्षय होता है,

और अशुद्धियों के क्षय से देह और इन्द्रियों की सिद्धिता होती है।
(यह भी स्वास्थ नियम है, इसका पालन अभ्यास) सबको करना चाहिये, इससे गरमी सर्दी सहन करने की शक्ति बढ़ती है शरीर दृढ़ होता है।)

(घ) स्वाध्याय— स्वाध्यायादिष्ट देवता संप्रयोगः
(२—४४)

अर्थ—स्वाध्याय से इष्ट देवताका संप्रयोग होता है।
(विवेकात्मक बुद्धि स्वाध्याय ही से प्रगट होती है, इस कारणमुमुक्षुओं को इस विषय पर विशेष ध्यान देना चाहिये। स्वाध्याय के अभ्यास से सत्यता में निश्चल भक्ति होतीहै)——

——वेद शास्त्रादि ग्रंथों का अवलोकन, अथवा नित्य पाठ करना स्वाध्याय जानना चाहिये। स्वाध्याय से मनुष्य की बुद्धि तीव्र, निर्मल, और न्याय सम्पन्न हो जाती है। जिस से मनुष्य को देवस्वरूप का यथार्थ ज्ञान हो जाता है; और इष्ट देवतों का सम्प्रयोग होता है। आप जानते हैं कि प्रज्ञ पुरुष अज्ञ पुरुषों के निकटवर्ती नहीं होना चाहते। स्वामी यंत्रालय के मुद्रित वेदान्त सूत्र में लिखा है कि:—

अनाविष्कुर्वन्न न्वयात् (३-४-५०)

पदार्थः- (अनाविष्कुर्वन्) दिखावा न करता रहे (अन्वयात्) प्रकरण संगति से।

अभिप्राय यह है कि ज्ञानवान् अपने भावों का दिखावा न करे, किन्तु बालक सा बना रहे। वाक्य भाव यह हैः-

यं न सन्तं न चाऽसन्तं नाऽश्रुतं न बहु श्रुतम्।
न सु वृत्तं न दुर्वृत्तं वेद कश्चित्स ब्राह्मणः॥ १

अर्थात्, ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मण वह है जिस को कोई न जाने 'कि सज्जन है वा असज्जन' विद्वान है वा मूर्ख, सदाचारी है वा दुराचारी इत्यादि।

यदि किसी तरह मक्त पुरुष अज्ञ पुरुषों के पास पहुंच भी जाते हैं, तो अज्ञ पुरुषों को उनके स्वरूप का साक्षात् नहीं हो सकता, कि यह किस वैभव का मनुष्य है। अज्ञ पुरुष विद्वान की विद्वत्ता को नहीं समझ सकता, और न विद्वत्व सम्भाषण उस को प्रिय होता है। ज्ञानवान् अपने भावों को अज्ञानियों में प्रगट नहीं करता, क्यों कि मूर्खों में ज्ञान का प्रगट करना न करना समान है, वरञ्च ज्ञानी की ज्ञानता का उपहास है।

श्लोक—गुणा गुणेषु गुणा भवंति ते निर्गुणं प्राप्य भवंति दोषाः
सुस्वादु तोयः प्रभवंति नद्या समुद्र मापः प्रवशंति तद्वत्॥
(भोज प्रवन्ध)

अर्थः-विद्वान मनुष्य विद्वानों में बैठकर विद्वान समझे

जाते हैं, और मूर्खों में दूषित कहे जाते हैं, अर्थात् निंदनीय होते हैं। जैसे नदियों का मीठा जल समुद्र में पहुंचने से खारी हो जाता है।

जब कि अज्ञ पुरुषों में, साधारण विद्वान की पहिचान नहीं हो सकती, तो देवताओं का सम्प्रयोग (मुलाकात) क्यों कर सम्भव कहा जा सकता है। विद्वान बेटा मूर्ख पिता से सम्भाषण नहीं करता। यदि देवता अज्ञ मनुष्य के समक्ष भी हों, तो भी उसको निदान न होने के कारण असमक्ष की भांति हैं; 'जैसे नपुंसक-अंध-पुरुष के, सामने सोलहों शृँगार-वान् मयंक मुखी नव यौवना मनोहर कामिनी'।

ध्यान दीजिये! कि अभिज्ञ पुरुष आकाशगामी सूर्यादि ग्रहों और नक्षत्रों का हाल यहीं हो बतला देते हैं, कि अमुक दिन अमुक समय पर इतने समय तक सूर्य्य अथवा चन्द्र ग्रहण होगा। बाल बुद्धि मनुष्य २० तक गिनती जानने वाले इतना भी नहीं जान सकते, कि पांच सेर के हिसाब से ३ पाई की दाल कितनी आवेगी। अल्पबुद्धि मनुष्य बालक समझा जाता है, चाहे वह वृद्ध क्यों न हो :—

श्लोक—नतेन वृद्धो भवति ये नास्य पलितं शिरः।
यो वै युवाप्य धीयानस्तं देवाः स्थिवरं विदुः॥
(मनु०)

अर्थः—देवगण विद्वान मनुष्य को ही वृद्ध कहते हैं चाहे वह युवा क्यों न हो, जिस के शिर के बाल सफेद हों उस को वृद्ध नहीं कहते हैं।

सुनिये एक वृद्ध बाबा और बाम वामा का उदाहरणः–
"किसी वृद्ध बाबा का लड़का स्कूल में पढ़ता था। एक दिन वृद्ध बाबा ने पूछा, कि –"बेटा ! आज कल तुम क्या पढ़ते हो ?" उसने उत्तर दिया कि–"पिताजी मैं निस्वत और तनासिब सीखा करता हूं।" बाबा ने कहाः– "अरे ! बेटा कैसी नसें तानना क्या ! मदरसोंमें अब नसें तानना भी पढ़ाई जाने लगी हैं !! अच्छा, बेटा ! दो एक नसें तानकर मुझे तो बतला"। बेटा ने कहाः– "(मन में बाबा तो निरा उल्लू है) बाबा जी 'त्रैराशिक' सीखता हूं"। बाप ने कहा– "बेटा ! तरेया राश्क्षत भी बता कैसा होता है ?" लड़के ने कहाः– "बाबा जी ! तुम तो जानते नहीं हो, मैं तुम को क्या बतलाऊं !!" सुनो 'त्रैराशिक' ऐसा होता है, कि:– "एक खेत की घास २४ आदमी १४ रोज़ में काटते हैं, तो ६ आदमी कितने रोज़ में काटेंगे ?" हाँ हाँ, ठीक है बेटा ! हम समझ गये लो अच्छा पढ़ते हो ! हमारा सवाल बतलाओ, कि "सात लुगाई २८ दिन में एक खेत काटती हैं, तो ६ डुकरियाँ (बूढ़ी औरतें) कितने दिनोंमें काटेंगी" ? (कोई विदूषक—मसखरा) भाई मोहन ! एक सवाल हमारा भी बताना, कि –"६ औरतों के १० खसम हैं; तो आठ प्रमदा-रंडियों-के कितने खसम होंगे ....?"

अजीमोहन ! अगर बाबा का सवाल बतादो, तो यह मेरा बता देना, पहिले बाबा का बताओ ? लड़का (मसखरा की ओर धीमी आवाज़ से) बाबा जी तो हमारे काठ के उल्लू हैं ! ऐसे भी कहीं सवाल होते हैं -- मसखरा - देखो ! बाबा जी, मोहन कहता है, कि –" बाबा जी तो उल्लू है"। बाबा यह सुनतेही नाराज़ हो गये और लड़के को दोचार

थप्पड जमादीं। लड़का चिल्लाया। चिल्लाहट सुनतेही मां का प्रेम पिल पिलाया। रोटी छोड़, चूल्हे से निकल, आग बबूला होकर, बड़ बड़ाती हुई दौड़ी; और बाबा जी को लड़के के पक्ष में अनेक गालियां दीं। लड़के के मां बाप में खूब गुत्थम गुत्था हुई। सब बाल-बच्चे जो और छोटे बड़े थे, रोने लगे—यह कुहराम सुनकर प्रतिवासियों ने आकर —निसबत और तनासिब याने त्रैराशिक जो इकट्ठी जुटगई थी-लड़के के मां बाप को जुदा २ करके बीच बचाव किया। फिर उस दिन बाबाजी का चूल्हा गरम न हुआ, किंतु जो प्रथम गरम था, पानी डाल कर ठंडा कर दिया गया; और सब ने त्रैराशिक व्रत (उपवास) धारण किया-

चौ०दुष्टसंग जनि देइ विधाता, याते भला नरक कर वासा।"

दूसरा उदाहरण:-" कोई प्रसिद्ध पुरुष एक ऐसे नग्र में रहता था, जहाँ का राजा बड़ा मूर्ख भूत था। उसकी अज्ञता दूर करने के लिये व्यक्त ने राजा को अपनी मूर्ती से चिढ़ प्रकाशित की; वरञ्च चकल्लसो विदूषक बनकर राजा को मोहित कर, राजा के समीप रहने का कारण बन गया। फिर राजा की यथा प्रकृति वर्ताव कर राजा के साथ खेलने कूदने लगा; और खेलने की वस्तुओं अर्थात् गोलियों इत्यादि पर वर्णमाला के अक्षर अंकित कर, राजा को प्रत्यह उन गोलियों से खिलाया। जिस से राजा को वर्णमाला का बोध बिना पढ़ाये होगया। जब वर्णमाला का बोध होगया, तब अनेक प्रकार के चक-ल्लसों के साथ वर्णयोजना की शिक्षा देना प्रारम्भ किया, और पुस्तकें पढ़ने का अभ्यास करा दिया। जब पुस्तकें

पढ़ने का उत्साह प्रगट हो गया, तो मनोरञ्जक उपन्यास और इतिहास ग्रंथ दिखला कर, राजा की अन्यकता नष्ट करदी; और राजा को विद्या सम्पन्न कर पंडित बना दिया। जिस से राजाकी आशक्ति धर्माचरण में होगई। अतएव राजा ने पंडित की बुद्धिमात्ता पर अति प्रसन्न हो, उसको दरिद्र दशा का प्रध्वंस कर दिया। राजा के निकट जो अज्ञान कालके अज्ञानी प्रेष्य थे, उनका उसने विस्मरण कर सुभृत्य तथा प्राड्विवाक का अन्वेषण किया,,।

एवं अविद्या और विद्या दोनों के सम्बन्ध में उभय उदाहरणों द्वारा जो सांकेत किया गया, उसके परिणाम पर विचार कर स्वाध्याय में भृशोत्साह होना चाहिये -यह विषय मनुष्य का मनुष्यत्व है, और परम विभूपक, कल्याण कारक प्राधान्य कर्तव्य है। इसी कारण इसका विशेष विवरण किया गया।———

(ङ) ईश्वर प्रणिधान	समाधि सिद्धि रीश्वर प्रणिधानात् (२-४५) अर्थ-समाधिकी सिद्धि होतीहै, ईश्वर प्रणिधान से। (जिसका सत्यमें निश्चल विश्वास है,-उसका अवश्य ईश्वर पर भरोसा है। नवधा भक्ति भी ईश्वर प्रणिधान में है, इससे नवधाभक्ति का अलग वर्णन करना आवश्यक नहीं है)
३-आसन-	स्थिर सुख मासनं (२-४६) अर्थ-जिसमें स्थिर सुख हो वह आसनहै

प्रयत्न शैथिल्यानन्त समापत्ति भ्याम् (२–४७)

अर्थः-प्रयत्नकी शिथिलता और अनन्तों के साधने से। (पशु पक्षी आदि के अनुकरणसे आसन सीखना चाहिये)

ततो द्वन्द्वाऽनभिघातः(२-४८)

अर्थः- इस (आसन) से द्वन्द्वों की चोट नहीं लगती है ।

(आसन सिद्धि हो जाने पर धूप, शीत, भूख, प्यास इत्यादि द्वन्द्व आक्रमण नहीं करते । यह साधन भी व्यायाम के तुल्य है आसन का अभ्यास स्वस्थाकांक्षी सब मनुष्यों को करना चाहिये इस से शरीर रक्षा होती है)

४ प्राणायाम्-

तस्मिन्सति श्वास प्रश्वास योर्गति विच्छेदः प्राणायामः (२-४९)

अर्थः-इस (आसनसिद्धता) पर श्वास प्रश्वास की गति रोकना प्राणायाम है

बाह्याभ्यन्तरस्तम्भ वृत्तिर्देश काल संख्या-भिः परिदृष्टो दीर्घ सूक्ष्मः (२–५०)

अर्थः-बाह्य, आभ्यन्तर,और स्वम्भवृत्ति -तीन प्रकार का देश, काल और संख्या से देखा हुवा दीर्घ सूक्ष्म होता है।

बाह्याभ्यन्तर विषया क्षेपी चतुर्थः(२-५१)

अर्थः-बाह्य और आभ्यन्तर दोनोंमें आक्षेपकरनेवाला चौथा (प्राणायाम)है
ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् (२-५२)
अर्थः-उस से प्रकाश का आवरण क्षीण होता है।
धारणासु च योग्यता मनसः (२-५३)
अर्थः-और धारणाओं में मन की योग्यता होती है।
(प्राणायाम् भी व्यायाम के समान है, इस से सत्व बुद्धि- प्रकाश का आवरण क्षीण होता है अर्थात् सात्वक बुद्धि प्रगट होती है। सत्य संयमी पुरुष की बुद्धि यद्यपि प्रथम ही से सात्वक जानना चाहिये, विना सत्व-बुद्धि के सत्य जिज्ञासा उत्पन्न नहीं हो सकती; तथापि प्राणायाम् से और भी नैर्मल्य प्राप्तहोगा तथा दृढ़ता होगी। इस कारण सत्य भक्तों को भी अवश्यमेव प्राणायाम् करना चाहिये यह आयु और बल वर्द्धक भी है।

५ प्रत्याहार—

स्वविषयाऽसंप्रयोगे चित्त स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः (२-५४)
अर्थः-अपने विषयों से इन्द्रियों का समागम न हो औरइन्द्रियाँ चित्तस्व-रूप का अनुकरण सा करने लगे (वही) प्रत्याहार है।

ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम्(२-५५)
अर्थः-तब इन्द्रियों की परमवश्यता होती है।
(इन्द्रियों का वश्य होजाना प्रत्याहार है। जिसका सत्य में अचल नेम है, उसकी इन्द्रियाँ भी चल नहीं हैं। सत्य प्रतिष्ठि में स्थिति चित्त परम वशी कार है)

६ धारणा- देशबन्धश्चित्तस्य धारणा (३-१)
अर्थः-चित्तका किसी देश में बांधना धारणा है।
(सत्य बोलने की प्रतिज्ञा करके चित्त का सत्यदेश में बाँध देना धारणा हुई)

७ ध्यान- तत्र प्रत्ययैक तानता ध्यानम् (३-२)
अर्थः-उस (धारणा) में प्रत्यय का एक सा रहना ध्यान है।
(सत्य प्रतिज्ञा का भंग न होना एकसा रहना ध्यान हुआ)

८ समाधि- तदेवार्थ मात्र निर्भासं स्वरूप शून्य मिव समाधिः (३.३)
अर्थः-वही (ध्यान) जिस में अर्थ मात्र प्रकाश हो और स्व (अपने) रूप से शून्य हो जावे (वही) समाधि है।
(जब सत्य संयमी को केवल सत्य

मात्र का आभास हो और अपने स्वरूप का ध्यान न रहै—शून्य सा हो जावे " समाधि हुई ")—

—त्रय मेकत्र संयमः (३.४)

अर्थः-एकत्र तीनों (धारणा, ध्यान, समाधि)को संयम कहते हैं।

तज्जयात्प्रज्ञा ऽऽलोकः (३-५) ।

अर्थ—उस (संयम) के जय से अर्थात् सिद्ध करलेने से प्रज्ञा (बुद्धि) का आलोक हो जाता है।

'तात्पर्य्य' उक्त कथन का यह है कि, जो अन्य संयम समूह को सिद्ध कर लेने से निर्मल ज्ञान प्राप्त होता है, वही सत्य संयम से भी हो सकता है। सर्व भूतात्मैक्य रूपी ज्ञान ही मोक्ष की जड़ है।

विदित बंध कारणस्य दृष्टया तद् रूपम् (१-११९ सांख्य)

अर्थः-बंध का कारण जिसको (अविवेक) विदित हो गया उसकी दृष्टि एक रूप है।

योग सिद्धयोऽप्यौषधादि सिद्धि वन्नापल पनीयाः (५-१२८ सांख्य)

अर्थः-योग सिद्धियें भी औषधादि की सिद्धि के तुल्य हैं; वह असान्य नहीं हो सकतीं।

ज्ञान विषय पर निर्भय विलास में उत्तम बोध दायक इसी भावानुकूल एक कवित्त है:—

कवित्व—आये कछु हर्ष नहीं, जाये कछु शोक नहीं ;
वड़ोही निर्द्वन्द्व हूं, समझने की बात है ।
देह नेह घेरे नहीं ; लक्ष्मी के चेरे नहीं ;
सुत वनितादि मेरे नहीं, हरिसों कछु बसात है ।
लोक की रीति है, मानने की प्रीति है ;
हार है न जीत है, जाति है न पांति है ।
निर्भय यही ज्ञान है, सत्य भगवान् है ;
और कहा ज्ञानी के, सींग जमजात है ।

(सफ़ा ७०)

यह कवित्व सत्य ज्ञान का सूचक है अर्थात् " सत्य का वर्ताव ही ज्ञान है " देखिये ! जिसको सत्य से प्रेम होगा, उसको लाभ का हर्ष और हानि का शोक न होगा । जो कुछ सत्य से प्राप्त होगा उसी में निर्वाह करेगा । सत्य से विलग होना जिसे दुःख ज्ञात होता है और मिला रहना सुख प्रतीत होता है, उसे सत्य के विरह से बचने के लिये, अर्थात् सत्य की रक्षा के लिये जो आक्षेप उस पर होंगे, उनको सहन करेगा, इससे निर्द्वन्द्व हो जावेगा । पुत्र और स्त्र्यादि सम्बन्धियों से, किन्तु अपने शरीर से भी अति स्नेह नहीं रखेगा ; क्योंकि अवसर में फाँसी क्यों न मिल जाय, सत्य की मित्रता त्याग न करेगा । वह लक्ष्मी का दास भी नहीं है, अर्थात् तृष्णा रहित है । तृष्णा भी असत्य व्यवहार से बढ़ती है, सत्य से क्षय होती है । " हरिसों कछु बसात है " यह वाक्य वैराग दृढ़ है । अर्थात् हरी (भगवान्) से क्या बस है ; (ईश्वर प्रणिधान भी इसी को कह

सकते हैं) स्त्री मर जाय ; पुत्र मर जाय ; और धन चुरा ले जाँय, चाहे जिस तरह सर्व सम्पति का नाश हो जाय; हम स्वयं संसार से चले जांय क्या कर सकते हैं? यह बातें हमारे हस्तगति नहीं हैं, इससे इनमें मोह करना वृथा है। जो काम मेरे अधिकार तन्त्र नहीं, वह मेरा भी नहीं; अतएव झूंठ बोलकर, झूठ कमाई कर क्यों कुटम्बियों का पालन पोषण करना? जो कुछ सत्कर्म द्वारा प्राप्त हो उसी स्वच्छ पैसा से निर्वाह क्यों न करना? नीति व्यवहार पर कोई भूखे रहो या प्यासे! मरो वा जियो !! नीति मर्य्याद कूदने की मुझमें शक्ति ही नहीं है !!! जैसे, ज्वर की पीड़ा ज्वरावधि के भीतर शान्त करने की किसी को सामर्थ नहीं है, वैसे ही किसी को अपने सम्बन्धियों के पालन करनेकी शक्ति नहींहै। ऐसाकथन केवल भ्रम मात्र है, कि' हमारे बाल-बच्चोंको कौन पालेगा? 'हमारी स्थिति पर तन्त्रहै।' जब हम न होंगे हमारे शरीरकी अवनति होगी, तब क्या दशा होगी?" उसी धारणा का आश्रय अपनी स्थिति में सदैव वर्तना, अर्थात् सत्कर्म का करना परम कल्याण कारक है, तथा सम्बन्धियों की भी अनुपम हितैषता है। सत्य प्रचुर सुखकारी बंधु है। असत्य कर्तव्य मूर्ख मन का संभ्रम, किन्तु मृग तृष्णा का जल है। जिसको यह भेद खुल गया, उसको यह निश्चय हो गया, कि मैं क्यों वृथा पाप भागी बनूँ यदि मेरे पापाचार से सुतदारादि सम्बन्धि, तथा स्वयं मैं सदैव सुरक्षित रहता, तो भी वैसा करना उचित था। परन्तु वह न मेरे मारने से मरते हैं; न मेरे जिवाये जिन्दा रह सकते हैं; इनका रक्षक (ईश्वर) तो और ही है, जैसे, श्वान सूखी हड्डी चबाकर अपने मुंह के शोणित को जानता है, कि यह हड्डी का रस है, वैसे ही मेरी

मूर्खता मेरे कुत्सित कर्म करनेकी है! हाँ; किंचित स्वकीय सम्बन्ध लोक रीति का है। यही मानने के कारण इन से प्रीति है, वह प्रीति की रीति मुझने उचित परिणाम में जैसी बनतीसमर्थन करताहूं। इसमें न मेरी हार है न जीत है ;यदि मैं 'सत्य' संचारन द्वारा अवनि का ईशत्व पाजाऊं; तो अपनी जय नहीं मानता ; और भीख माँगने लगूँ, तो अपनी पराजय नहीं समझता हूं। न मैं छोटा हूँ, न बड़ा हूँ। कवि कहता है, कि भगवान् सत्य है, उसी का आश्रय भी सत्य है। वस इसी को ज्ञान कहते हैं। और ज्ञानी के कोई ज्ञान से शृङ्ग उत्पन्न नहीं हो जाते हैं। उपरोक्त साधन जो वताये गये हैं उन सवकी इसी अर्थ में भावना दर्शित होकर, सत्य विषय में समाप्त हो जाती है। निर्भय विलास में उपरोक्त कवित्व के साथ एक और भी कवित्व योगियों के योगत्व में लिखा है :—

कवित्त।

"प्रेम की सेली पड़ी, ध्यान का आसा है, लगन की अगन में, जियरा अति जरत है। विरह की भस्म मली, प्राणनते अटकी है; छिन हू घन श्याम विन, कल नाही परत है। लाज गई धीर गयो, बुद्धि मन शरीर गयो; आपा विसरायो, काल हू सों न डरत है। सर्व का वियोग है, निर्भय यही योग है; और कहा योगी, कुछ जहर खा मरत है।"

अव श्रवण; कीर्तन, अर्चन, वन्दन, स्मरण, निवेदन, सख्य, दास्य और सेवन नवधा 'भक्ति' का व्योरा सविस्तार वर्णन करना आवश्यक नहीं; क्यों कि "ईश्वर प्रणिधान" का जो ऊपर निरूपण हो चुका है, भक्ति इसी के अन्तर्गत समझना चाहिये।

'ईश्वर प्रणिधान' भी समाधि का एक मात्र उपाय है। इसी कारण गोस्वामितुलसीदासजी ने रामायण में "भक्ति" को अति श्रेष्ठ रूप में प्रति पादन किया है। 'योग दर्शन' में भी कहा है, कि ईश्वर प्रणिधान से समाधि अति ही समीप हो जाता है; जैसे :—

तीव्र संवेगाना मा सन्नः (१-२१)

अर्थः—तीव्र वेग वालों को (योग) समीप है।

मृदु मध्याधि मात्र त्वात्त तोऽपि विशेषः (१-२२)

अर्थः—मृदु, मध्य, और अधिमात्र होने से भी विशेष है।

ईश्वर प्रणिधानाद्वा (१-२३)

अर्थः—अथवा ईश्वर प्रणिधान से।

क्लेश कर्म विपा का शयैरपरामृष्टः पुरुष विशेष ईश्वरः (१-२४)

अर्थः—क्लेश, कर्म, कर्म-फल, और कर्म-फल-वासनाओं से असंबद्ध पुरुष विशेष ईश्वर है।

इस सूत्र के भावानुसार व्यक्ति उपासक मोक्ष पुरुषों को भी ईश्वर मानते हैं, क्यों कि वह भी क्लेश कर्मादि से रहित हैं; जैसे 'राम' 'कृष्ण, प्रभृत्ति; परन्तु आर्य्य समाजी इसके विरोधी हैं;। वह कहते हैं, कि मोक्ष पुरुष ईश्वर नहीं हो सकते हैं, इस कारण कि, उन्होंने बंधन से छूट कर मोक्ष पाया है। मोक्ष के पहले वह बंधन

में थे। ईश्वर जो है वह कभी बंधन में नहीं आया और न आवेगा। हम इसमें कुछ नहीं कहना चाहते; पाठक स्वयं 'निर्णय करते रहेंगे । हमारा निवेदन इस समय केवल सत्य सिद्धान्त पर है।'

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञ बीजम् (१-२५)

अर्थः—उस (ईश्वर) में इतनी सर्वज्ञता होना चाहिये, कि किसी में उससे अधिक न हो।

सएप पूर्वेषा मपि गुरुः कालेनाऽनवच्छेदात् (१-२६)

अर्थः—वह पूर्वजों का भी गुरु है काल से नहीं कटता।

तस्य वाचकः प्रणवः(१-२७)

अर्थः—उसका वाचक प्रणव अर्थात् 'ॐ' है।

तज्ज, पस्तदर्थ भावनम् (१-२८)

अर्थः—उसका जपना और उसके अर्थ भावना करना।

ततः प्रत्यक् चेतनाधि गमोऽप्यन्तरा याऽभावश्च (१-२९)

अर्थः-उसमें अर्थात् ईश्वर प्रणिधान (ईश्वर भक्ति) से प्रत्यक चेतन का ज्ञान और विघ्नों का अभाव हो जाता है।"

वह विघ्न यह है जिनका ईश्वर प्रणिधान से अभव हो जाता है :-

" व्याधिस्त्यान संशय प्रमादालस्याविरति भ्रान्ति दर्शनालब्ध भूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्त विक्षेपास्तेऽन्तरायाः (१-३०)

अर्थः—व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्ति, दर्शन, अलब्ध, भूमिकत्व, और अनऽवस्थितपना इतने विघ्न चित्त के विक्षेप करने वाले हैं।

दुःख दौर्मनस्याऽङ्ग मेजयत्व श्वास प्रश्वासा विक्षेपसह भुवः (१-३१)

अर्थः- दुःख, दौर्मनस्य, अङ्ग मेजयत्व, श्वास, और प्रश्वास यह विक्षेपों के साथी हैं।

तत्प्रति षेधार्थ मेकतत्वा भ्यासः (१-३२)

अर्थः- उन विघ्नों के निवारणार्थ एक तत्व का अभ्यास करे।"

एक तत्व सत्य मात्र को अभ्यास इस लोक और परलोक दोनों में परम हितैषी अभिन्न हृदय बंधु है; दया का सिंधु है; मनोभवी इन्दु है; सन्मान का विन्दु है; सर्व को मान्य है; पूज्य का प्रमाण है; सर्व को प्रिय है; भगवान् का हिय है; आस्तोषदेव है; सर्व को सेव्य है; सर्व में व्याप्त है; सर्व को प्राप्त है; नाथों का नाथ है; अनाथों को सनाथ है; सर्वानन्द का दाता है; सनोतन को जाता है; आनन्द को भी आनन्द देने वाला है; देवों

को निकालने के लिये खासा पनाला है; यह परमात्मा की कृपा का केन्द्र है; इस विश्व को पहुँचा हुआ सुरेन्द्र है; सत्यता पोषधी प्रसाता है; क्यों न इसकी गोद में आता है; यह मौत को भी मौत है; अविद्या की सौत है; विश्वास जो इस पर लाता है; दोनों दुनियां में माला माल हो जाता है; यह हिरण्य का भारी ढेला है; सत्य भगवान ने इसको पेला है, जिसने इसको झेला है; मलकुल मौत को भी उसने ठेला है; सच्चे सद्क़ का जो चेला है; उसे इस रुतबे में क्यों झमेला है? -- सत्य ही सत्य है जो सत्य किया चाहता है; सत्य करके देखले गर सत्य को दिल चाहता है: साहब का निहाँ नूर है इस सत्य में साहब; इस तत्व का जरूर ही होता है मुसाहब; इस सत्य के इश्क़ में दिल जिसने जमाया; ख़लक़त में किया नाम है दिलबर में समाया; दारली 'मंसूर' ने इस सद्क़ के ख़ातर! इस नुक़ते को पहचान लिया जान से बरतर!! साबित रहा इस राह में क्या उसका क़दम है!! जो कह दिया, फ़िर न किया अपना भी रहम है; कर वज़ू ख़ुद ख़ून में कुर्बान हुवा है; माशूक़ के दर वस्ल का मिहमान हुवा है! -- यह अमृत की बूँदें मुंह में टपकाता है; असर होता जो सख्त चाहता है; मोतियों का लच्छा कितना खुसनुमा होता है; नादाना उसको पत्थरों से तोड़ता है; बींध लेना इसका जो कि जान लेता है; किस का मुहताज दो जहाँन में होता है; यह वह इल्म है जो हम्द इसकी जानता है; ज़ात 'अल्लाह' की इस शान में पहचानता है; मैं कह नहीं सकता हूं कि यह किस इल्म का दायरा है; आलम सवाब में ख़ुदा की पनाह का दरयाव लहराता है; ज़बाँ से ब्याँ इसका हो नहीं सकता; अलफ़ाजों में इसकी

तहज़ीब का गुमाँ हो नहीं सकता; तूल कहना अब हम नहीं चाहता है; दिमाग़ में वद हज़मी का जोश आता है; पढ़ने वालों का दिल घबराता है; मुख्तसर चीज़ में क्या लुत्फ़ आता है; यह नज़्म नहीं नस्र है; ज़ोर से कहने का इसमें असर है। सत्य सब श्रेणी के मनुष्यों को शोभित करने वाला अनुपम आभूषण है क्योंकि जो इस को धारण करेगा समाज में विश्वस्त होकर अति प्रतिष्ठित दृष्टि से देखा जायगा। और विश्वास का पात्र होकर सर्वस्व का अधिकारी होगा। ग्राहक अनुग्राहक सब उस की सत्य प्रतिष्ठा की लीक के अनुरागी होंगे। सम्पूर्ण धर्म मतों और धर्म ग्रन्थों का परम रहस्य है, अथवा स्वयं सिद्धि मंत्र है। यंत्र, मंत्र, तंत्र, सब की कुञ्जी है। इस के रसास्वादन बिना सब निः-स्वाद है: जैसे, लवण बिना असन। आयुर्वेद शास्त्र में कहा है, कि असत्य सेवी मनुष्य रसायन का सेवन नहीं कर सकता है:-

"अथसप्त पुरुषा रसायनं नोप युञ्जीरन्"

सात प्रकार के (असत्य +) मनुष्यों को रसायन सेवन उपयोगी नहीं।

तद्यथा अन स्मवान् अलसी प्रमादी दरिद्रः व्यसनः पापकृद्भेष जापमानी चेति। सप्त भिरेव कारणैर्न सांपद्यते अज्ञानाद नारंभाद स्थिर चित्तत्वा द्दारिद्र्याद नायत त्वाद धर्मा दौषधाऽलाभाच्चेति।
(सु० सं० चि० ३०२)

+उपरोक्त सात प्रकार के मनुष्यों को भी झूंठ बोलना पड़ता है देखो पोड़ पद्मम्।

अर्थः-तद्यथा अनात्मवान् , आलसी, प्रमादी, दरिद्री,व्यसनी, पापी, और भेषजापमानी,-इन सात को सात ही कारणों से रसायन संपादन उचित नहीं । अनात्मवान्- जिसने अपनी आत्मा का आज्ञातत्व न समझा हो उसको अज्ञान से, २ आलसी-को कार्य्य के अनारम्भ से, ३ प्रमादी - को चित्त के स्थिर न होने से, ४ दरिद्री-को असमर्थता से, ५ व्यसनी-को व्यसन की परतन्त्रता से, ६ पापी - को पाप कर्म के करने से, ७ भेषजापमानी - को औषध अलभ्य होने से।"

'सत्य' तत्व सारे जगत का अवलम्बन है । कुमार्ग गामी नकार पुरुषों का भी विना 'सत्यांश' ग्रहण किये कार्य्य सफल नहीं होता। चोर २ मिलकर भी अन्यान्य 'सत्य' का व्यवहार अवश्य करते हैं। संसार में कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है, जो तारतम्य 'सत्य-छाया' से संरक्षित नहो । 'सत्य' सब सुखों का वीर्य है , अधीरों का धीर्य है । सब दुखों का छेदन करने वाला शस्त्र है, सर्वानन्द को देने वाला ब्रहस्त्र है। यह सर्व ओर से तीक्ष्ण धार वाला है , चाहे जिस तरफ से काम आने का आला है। यह शस्त्र हन्ता और निहत, यानी कातिल और मकतूल दोनों को निहाल करने वाला है। अजब निराला इसका चाला है। ज़ङ्ग इसको खा नहीं सक्ता; म्यान में यह आ नहीं सकता; किसीसे कोई इस को छीन कर ले नहीं जा सकता ; किसीका दावा इस पर हो नहीं सकता; इस हथियार का बांधने वाला कभी बल खा नहीं सकता; हार जाने पर भी हारना उसका हो नहीं सकता ; खून आना इस से हो नहीं सकता । इस के मारे रोना किसी का

आना इससे हो नहीं सकता; इसके मारे रोना किसी का हो नहीं सकता; यह हथियार भी १हत-२यार है; इससे मरे का होता न बांका बार है; इस को जो खूब कसकर बांधता है; अपार तेज बल उसका हो जाता है; यह कमज़ोर का ज़ोर है; बरज़ोर का सहज़ोर है। अहा! यह 'परमात्मा' पर्यन्त सब को मोहित कर प्रसन्न करने वाला मनोहर बाजा है। देवताओं का देवत्व है; महात्माओं का महत्त्व है; प्रतापवानों का प्रभुत्व है; गुरुओं का गुरुत्व है; ईश का ईशत्व है; कैसा अनोखा तत्त्व है! जड़ चेतन रूपी ग्रंथि निवारणार्थ सदैव प्रकाशमान-(अत्यन्त) जोत है; और धर्मों का इसका प्राप्ति मार्ग भी अगम नहीं है। यह विशाल लाभदायक, विशाल विसातहै *इस चालका चलना अजूबा बात है। इच्छित फलों का तरुहै; ३काम-रण ४धनुतकरु है। जिसने इस सुण मन्त्र संसारमें इस का सेवननहीं किया, उसका जन्मनिरर्थक है। सत्य-संचार आत्म देव को पहचान के लिये उत्तम विधि है। जीता तो वही है जिसने इस सार-तत्त्व को पहचाना है! यही मनुष्य की ज़िन्दगी है!! जिसने इसका अभ्यास कर अपनी वाणी को स्वयं सिद्धि बना लिया है, उसने सब कुछ पा लिया है!!! इस में किञ्चित संदेह नहीं है, कि सत्य प्रतिज्ञ

---

* कोई २ कहने लगते हैं कि तुम बड़ी विसात लाये हो इसके समान अन्य विसात नहीं है।

१ मारे हुये का २ दोस्त ३ कामनाओं का रण ४ अर्जुन

पुरुष के मुंह से जो निकल जायगा, वही हो जायगा*
[२-२६ यो०]; परंतु 'सत्य' का उच्चारण भी बिना
अभ्यास सहसा स्वच्छ नहीं हो सकता ।

इति चतुर्थ पोड़ समाप्तः

* सत्य प्रतिष्ठायां क्रिया फला श्रयत्वम् ।

अर्थः- सत्य में प्रतिष्ठा होने से क्रियाफल आश्रेय हो जाता है। (योग दर्शन २—२६)

मीमांसा वर्ग २ ।

पञ्चम् पोड़ ।

रोगप्रशमन

ज्ञान ग्रहणाभ्यास स्तद्विद्यैश्च सह संवादः (४-२-४७न्याय द०)
अर्थः-जो ज्ञान का ग्रहण करना चाहता हो, उसका अभ्यास और उस के ज्ञाता अर्थात् जानने वालों के साथ संवाद करना चाहिये।

स त्य ग्रहण के लिये विद्यार्थियों की तरह प्रथम सत्यार्थी बनना पड़ेगा; यद्यपि यह मुँह से कहना सहज प्रतीत होता है, कि झूठ न कहेंगे; परन्तु नहीं कह सकते। यदि अहर्निश की बात चीत का गणित किया जाय, तो सत्यवाद का अंश बहुत थोड़ा और मिथ्यावाद का अधिक निकलेगा—यह सत्य जिज्ञासु को सत्य वाद के अभ्यास की प्रथम कक्षा समझना चाहिये, और प्रति दिन विचार करना चाहिये, कि आज मैंने इस प्रकार 'भूलकर' और इस प्रकार 'जान बूझकर' झूठ बोली। अब कल इतनी झूठ नहीं कहनी पड़ेगी; क्यों कि आज जो मुझे झूठ बोलने के मर्मस्थान ज्ञात हुये हैं; जो विशेष कर असत्य उच्चारण के कारण होते हैं, उस पहलू

का बचाव कर शब्दोच्चार करूंगा। प्रथम तो आत्मा ही स्वतः सत्यप्रेरक है और वह बात २ पर सत्य ही का संकेत करता है; परंतु विषय लम्पट इन्द्रियां बुद्धि को भुला देती हैं। स्वतंत्र आत्मा ही सत्य योगी का उत्तम गुरू है। ऐसे योगी को अन्यत्र गुरू ढूंढने का विशेष आवश्यकता नहीं है। आत्मा जिस कर्म को उचित और नीति युक्त साक्षी दे, वही कर्म सत्य चिन्हित प्रतीत करना चाहिये। ऐसा कर्म कदापि दोष का भागी नहीं हो सकता। यह योग किसी मनुष्य को किसी समय परतन्त्राधिकारी नहीं है। पर सत मित्र का भी अनुभव होता है, ऐसा कि, अमुक मनुष्य अमुक काम अथवा क्रिया का ज्ञाता है; नहीं मालूम हम को बतलावेगा या नहीं; अथवा मालिक हम को अमुक काम करने की आज्ञा देगा या नहीं; हमारी विज्ञप्ति को स्वीकृत करेगा या नहीं! इस कर्म के करने में मनुष्य प्रति समय प्रत्येक दशा में स्वतंत्र है। विचार कीजिये, सत्य बोलने में क्या परन्त्रता है? सत्य न बोलने का केवल यही कारण है, कि मनोमात्र स्वार्थ की हानि होती है। यद्यपि उस हानि का असत्य से सुरक्षित रहना भी निश्चय नहीं है और न अपने आधीन है; जैसे, कोई श्रमजीवी चार आने प्रति दिवस श्रम करके और चार आने स्तेय इत्यादि अमत्कर्म से—ऐसे आठ आने रोज़ पैदा करता है; यदि वह बीमार हो जाय, तो असत्यता बीमारी की दशा को भगाने का क्या उपाय कर सकती है? जिस से उस आठ आने रोज़ की आय में रुकावट न हो। जब कि आमद अथवा अन्य सिद्धांत के कर्तव्य को दैवात् ऐसा धक्का लगना पाया जाता है कि जिस को सम्हालने

की शक्ति किसी में नहीं है, इसी से सत्य स्वाधीन और असत्य पराधीन हो सकता है। इस अभिप्राय से चार आने रोज़ श्रमपूर्वक जो उचित परिश्रम से हो पैदा करके, ऊपर आमदनी का त्याग कर, चार आने रोज़ की हानि के लिये मान लेना, कि इतना द्रव्य बीमारी इत्यादि किसी दैवात घटना द्वारा अपहरण किया गया है। अपनी नियत बिगाड़ कर मनुष्य अपनेही साथ शत्रुत्व करता है। बुरी नियत से कदापि अधिक लाभ नहीं हो सकता। मिलता उतनाही है जो भाग का होता है। बुरी नियत करना व्यर्थ है। कागज़ की नाव समुद्र में गलने से रह नहीं सकती है; थूक चाटने से व्याधि टल नहीं सकती है; थूक जाने से जीभ शुष्क हो नहीं सकतीहै; लूट लेनेसे सम्पदा मिल नहीं सकतीहै। जिनके यहां डाकू अथवा चोर पड़गये हैं; उनको भीख मांगते न पाया होगा; जो दस्युहैं उनको चैन उड़ाते न देखा होगा। मृग तृष्णा के जल में क्या तृषा की तृप्ति कर सकता है? क्या श्वान सूखी हड्डी चबाने से पेट भर सकता है? हमारा हाथ हमारे मुँह तक पहुचना भी अनधिकार है। सर्व को देता है वही--जो देना चाहे—जो 'सर्व सत्कार, है। अधिकांश लोगों को ऊपरी आमदनी अधिक पसन्द है; यदि किसी की तनख्वाह साठ रुपया मासिक है और ऊपरी आमदनी कुछ नहीं है, तो उस को इस बात का अत्यन्त दुःख है, कि हाय! मुझे ऊपर कुछ नहीं मिलता सूखी रूखी तनख्वाह में क्योंकर गुज़र करूँ! यदि तनख्वाह ४०) रुपया मासिक है और ऊपर आमदनी लग भग दस रूपया मासिक हो जाती है तो वह खुश रहता है। यदि २०) रूपया तरक्की होकर ६०) रु० मिलने लगे; परन्तु ऊपरी आमदनी का लव लेश न हो तो सुःख का दुःख होजायगा। ४०+१०=५० से ६० मिलने

पर अर्थात १०) रुपया प्रथम से अधिक मिलने पर भी सन्तोष न कर, ऊपरी लाभ के लिए घात्रवाई गाय गते रहेंगे और अप्राप्ति दशामें रम्भावेंगे अर्थात हाय ! २ करेंगे। स्वर्ग-साम्राज्य भी असन्तोषी को सुखमय नहीं है। जो चोरी करता है, उसका अंतःकरण कितना भयभीत रहता है और सोते जागते चिंता रोग लगा रहता है कि भेद न खुलजाय। जो मांगकर खाता है वह सदैव प्रसन्न रहता है; परन्तु मांगने वाले का चित्त उस दशा में प्रसन्न रहता है; जब कि दिमाग़ में बड़प्पन की बू का चिन्तन नहो। सुन्दरवस्त्र-आभूषण पहरने वाला; सुन्दर शय्या पर लेटने वाला; इन्द्रिय रति को तृप्त करने वाला; अपने से हीन मनुष्यों को अहम् बू का सुघाने वाला; बड़ों से डरने वाला सचमुच बड़ा आदमी नहीं है। बड़ा आदमी वही है, जिसे सत्य का अहंकार है; और जिसको यह शौक़ सा हो गया है, कि 'लोग मुझे झूठा न कहें ऐसा कान मुझसे सम्भ्रम कर भी नहो जाय। महाराजा हरिश्चंद्र ने शूद्रों को भी सत्य शृँगार की आभा दिखलाई है। महाराजा "रामचन्द्र" ने 'सत्य आभूषण' पर गर्द पड़ने के भय से गर्भवती 'सीता' जी का परित्याग किया है। उनको यह भी लज्जित प्राप्त नहीं हुई है, कि कोई कहेगा, कि महाराजा 'रामचन्द्र' की रानी आश्रित फिरती हैं। संसार में राज पाट, ज़मीं, जागीर, धन दौलत, माल खज़ाना, सुतदारादि, और निज शरीर इत्यादि सब पदार्थ नाशवान् हैं-और क्षण मात्र में पराये हो जाते हैं। सत्य अविनाशी है और अपना परमहितू है। कुत्सत कर्म करके अपने बड़प्पन के लिये लोगों के सामने रंडियों को रुपया देते हैं, और तक़ावी लगान

अदायगी में सिपाहियों के जूते खाते हैं-ऐसे बड़प्पन से क्यों बाज़ नहीं आते हैं ? जो सत्य की पाबंदी करते हैं, वह इन मुसीबतों से बे गुनाह रहते हैं । ज़ालम की नियत से गर कोई मुसीबत खाते हैं, मुअज़्ज़ो शजर की शाखायें बढ़ाते हैं । जिसका बदला दीनो दुनियां में पाते हैं, हमेशा के लिये इस फल की बदौलत खुशरो हो जाते हैं ।

एवं निरन्तर विचार और अभ्यास करने से अभ्यास दृढ़ी भूत हो जाता है, और सत्य स्वरों में ज्ञान होकर सत्य से अनुराग बढ़ जाता है ; जैसे, छात्र प्रथम पढ़ने से जी छिपाते हैं, और बोध हो जाने पर उसी में मग्न हो जाते हैं । अभ्यास की महिमा अपार है, असम्भव को सम्भव करने वाला है । यज्ञोपवीत कान पर चढ़ाने का कैसा अभ्यास पड़ जाता है, कि शरीर पर यज्ञोपवीत न होने पर भी यज्ञोपवीत कान पर चढ़ाने का स्मरण मल मूत्र त्यागन समय हो जाता है ; वरन हाथ कानपर यज्ञोपवीत ले जाने की चेष्टा करने लगता है । बढ़ई का हाथ कितनी सावधानी से लकड़ी छीलने का अभ्यासी हो जाता है, कि वह जितनी लकड़ी छीलनी चाहता है अचूक भाव से छीलता जाता है । नट कितनी पतली रस्सी पर चलने लगता है, जो पृथ्वी से दूर और हिलती भी रहती है ; चूक की आशा पर मृत्यु मुंह फैलाये बैठी रहती है । बुद्धि को कितना सूक्ष्म विषय ग्रहण करने का अभ्यास हो जाता है, जो प्रथम 'अ आ' जानने को भी अशक्त थी । वैसे ही सत्यार्थी को अभ्यास से सत्यवाद का अचूक अभ्यास हो सकता है, अर्थात् जो वह कहना, अथवा करना चाहेगा, वह ऐसा विवेक युक्त होगा ; कि कदापि

उसमें असत्य का आवाहन् सम्भव न होगा। परंतु यह प्रतिकार उस असत्य का है जो भूल से उच्चारण होता है। उस असत्य का प्रतिकार नहीं है, जो विशेष कर सानुराग कहा जाता है-ऐसे असत्य का प्रतिकार केवल राग प्रशमन हो सकता है; क्यों कि जान बूझ कर असत्य कहने का प्रयोजन, किसी इन्द्रिय की विषय वासना की तृप्ति है।

जब काम वासना उद्दीप्त होती है तो स्त्री प्रसंग की आवश्यकता होती है; भूख लगती है, तो स्वादिष्ट भोजन चाहना पड़ते हैं इत्यादि। पतञ्जलि मुनि कहते हैं:—

" अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः (१-१२ यो० द०)

अर्थः—उन (चित्त वृत्तियों) का वैराग के अभ्यास से निरोध हो जाता है।

तत्रस्थितौ यत्नोऽभ्यासः। (१-१३ यो० द०)

अर्थः—उनमें स्थिति का यत्न करना अभ्यास है।

सतुर्दीर्घ काल नैरन्तर्य सत्कारा सेवितो दृढ़ भूमिः।

(१-१४ यो० द०)

अर्थः—वह (अभ्यास) चिरकाल तक निरन्तर सत्कार पूर्वक सेवन करने से दृढ़ भूमि (मज़बूत) हो जाता है।"

अभ्यास के महात्म से जबकि, नट एक पतली रस्सी पर चलने लगता है, तो चित्त वृत्तियों का रोकना क्या इससे कठिन हो सकता है? नट पेट भरने के लिये प्राण घातिक काम करता है, उसके कर्तव्य में किंचित् भूल आने पर वह काल का कौल हो सकता है। क्या वह सम्भावना चित्त वृत्तियों के रोकने में हो सकती है? नहीं! प्रत्युत विद्व जन परमानन्द का प्रादुर्भाव संग्रहण कथन करते हैं। हाँ, यह अवश्य होता है कि, मन प्रथम

अभ्यास के करने ही में आलस्य करता है, और चपलता से तत्काल सुख की ओर दौड़ता है; जैसे, प्रथम विद्यारम्भ या किसी कला कौशलाभ्यास में प्रवृत्त होना अच्छा न (पालक) व्याकुल होना मानते हैं, और फिर उसी अभ्यास की सिद्धता से संतुष्ट हो जाते हैं किन्तु प्रथम की अज्ञानी दशा पर पश्चात्ताप करते हैं। यदि आलस्य और सुकुमारता की तत्परता त्याग कर विषय वैराग्य प्राप्ति निमित्त कोई सत्य सङ्कल्प करले, तो इन्द्रियां कैसी भी निष्पक्ष क्यों नहीं विषयों की ओर जाने से रुक सकती हैं। वस्तुतः मनुष्य ही इसकाम को करते हैं, वह प्रथम मनुष्य ही थे जिन्हों ने इस कामको किया है।

स्वतंत्र चित्त विषयों की ओर अधिक दौड़ा करता है; परतंत्र अथवा किसी देशमें स्वयं प्रवृत्त या बांधा हुआ चित्त ठहरा भी रहता है: और भयावेश समय तो अपनी उँजलो पुँजलो फेंक कोई कोने ही में जा बैठता है। जब कि चित्त को अधिक भय प्राप्त होता है तब अपनी इच्छा रुचि को लातों से रोंद कर, उस विषय वासना का नितान्त परित्याग करने का मंसूबा करता है, जिस से वह भय भीत हुआ है; जैसे, कोई कामातुर मनुष्य स्वच्छन्दभाव से परकीया आसक्त हो, उसी समय आकर कोई उस के मुँह पर दो थप्पड जमादे, तो काम वासना वहां से तुर्ताव कूच कर जायगी--अधिक पिटने पर कहने लगेगा, कि अब ऐसा न करूंगा; किन्तु पश्चाताप भी करेगा कि मैंने क्यों ऐसा दुष्कर्म किया! यदि ऐसा न करता तो इस दुर्गति को प्राप्त न होता। इस से ज्ञात होता है कि जब ऐसी अवस्था में चित्त अपनी वृत्तियों को रोक

कर, विषयों की ओर वैराग्य दृष्टि से प्रणाम करता है; ना हो नहीं सकता है, कि-इस प्रकार के दृढ़ ज्ञान होने पर चित्त अपनी वृत्तियों को निरोध करने का उत्साह न करे। यह ज्ञान विवेक बुद्धि से निर्णय करने पर, कि अधिक सुख किस में है? और प्रारब्ध से विशेष कुछ मिल सकता है या नहीं? दृढ़ हो सकता है। यदि विचार दृष्टि से देखा जाय, तो सुख ब्रह्मचर्य्य में अधिक प्रतीत होगा। क्षणिक आनन्द के व्यभिचार का पक्ष कदापि भारी नहीं हो सकता। ब्रह्मचर्य्य की महिमा लिप्त नहीं है। मेघनाद को पराजय करने की शक्ति किसी में नहीं थी; महाभारत संग्राम में श्रीकृष्ण को शस्त्र ग्रहण कराने की शक्ति किसी में नहीं थी। जिस को मनोहर युवती के कुटिल कटाक्षों ने नहीं हिला पाया, उस को कोई नहीं हिला सकता है। वीर पुरुष भीष्म का ब्रह्मचर्य्य तोड़ने के लिये ऋषि, मुनि और गुरु परशुराम ने भीष्म से बहुत प्रार्थना की, और उन की सौतेली मां ने भी, जिस के कारण उन्होंने यह भीष्म कर्म किया था; परन्तु उन्हों ने कदापि स्वीकार नहीं किया—इस हट पर परशुराम ने घोर युद्ध किया था। भीष्म कहते थे कि देवता अपने धर्म को; तत्व अपने गुणों को त्याग दें, मुझे त्रैलोक सहित स्वर्ग साम्राज्य का सुख व चाहना अङ्गीकार है; परन्तु ब्रह्मचर्य्य महाव्रत का खंडित करना और अपनी प्रतिज्ञा जो कि मैं प्रथम सत्यवती निमित्त कर चुका भङ्ग करना अङ्गीकार नहीं है। वह इसी महाव्रत ब्रह्मचर्य्य की शक्ति थी, कि कृष्ण भगवान् को भीष्म के आक्रमण पर शस्त्र ग्रहण करना पड़ा था।

लक्ष्मण जी के १२ वर्ष के ब्रह्मचर्य्य से मेघनाद मारागया था। यौवना वस्था और ब्रह्मचर्य्य की बात—इस रहस्य को कामासक्त युवक कैसा समझते होंगे; जैसे, बीनें के सामने कायरों की बात। ब्रह्मचर्य से शरीर पुष्ट होता है बल बढ़ता है, आयु बढ़ता है, और मनुष्य व्यभिचारिक झगड़ों की चोटों से सुरक्षित रहता है। विशेष न हो तो इतना ब्रह्मचर्य्य अवश्य होना चाहिये, कि परकीया में स्पृहा न करे। केवल सन्तानोत्पत्ति निमित्त ऋतुकाल में स्वकीया रमण शास्त्रोचित है। इस में सत्यव्रत खंडित नहीं हो सकता है। व्यभिचार पुंसत्व नहीं है।

अबोध दशा में यह कल्पना प्रायः उठा करती है, कि सत्य ही सत्य बकते रहेंगे, तो संसार के कार्य्य कारण कैसे चलेंगे और बाल बच्चों तथा अन्य हमारे सम्बन्धियों का पालन पोषण कैसे होगा? क्यों कि वर्तमान काल में बिना लच्छेदार बातों और गप्पों शप्पों के कोई प्रसन्न नहीं होता, और न सत्य से कहीं एक पैसा मांगे मिलता है—यह कल्पना अनुचित नहीं है; परन्तु थोड़ा विचार करने पर शुद्ध अंतःकरण यही उत्तर देता है, कि वह सारी सृष्टि का पालन कर्ता भी तो कोई चीज़ है—हमारी टिटिहरी कैसी अहं कल्पना न क्या होता है? संसार में अवाक् (गूंगे) प्राणी भी उदाहरणार्थ देख पड़ते हैं। वह बिना वाणी के किस भांति गप शप मिला सकते हैं; और उनका पालन संसार में कैसे होता है? अरे! कहीं टिटिहरी अपने लम्बे पैरों पर आसमान टूटने पर थाम सकती है; जुगनू के प्रकाश में कहीं काम हो सकता है।

जिन स्वकीय सम्बन्धियों का हम 'सत्य' त्याग कर — जो हमारा परम हितैषी अभिन्न हृदय सच्चा बन्धु है — पालन करना चाहते हैं। वह सम्बन्धी हमारे निश्चय हितकारक नहीं हो सकते हैं। संसार में किसी का अचल विश्वास करना योग्य नहीं है। देखिये! महारानी 'केकयी' ने स्वपति महाराजा 'दशरथ' को प्राणान्तिक कष्ट का भांडा स्थापित किया था; बादशाह आलमगीर ने अपने पिताको कैद में रक्खा था। भृत्य हरि महाराजा ने कहा है:—

श्लोक—यां चिन्तयामि सततं मयिसा विरक्ता, साप्यन्य मिच्छति जनं स जनोऽन्य सक्तः। अस्मत् कृतेच परि तुष्यति काचि दन्या., धिक् ताञ्च तञ्च मदनञ्च इमाञ्च माञ्च।
(२—१ नी० श०)

अर्थः—जिस (रानी) की मैं हमेशा चिन्ता करता हूं वह मुझसे विरक्त है; किन्तु दूसरे पुरुष की इच्छा करती है; वह पुरुष और में आशक्त है; और वह स्त्री मुझसे प्रसन्न है। इस कारण रानी को, उस पुरुष को, इस स्त्री को, मुझको और कामदेव को धिक्कार है! जिसकी यह करतूति है।

महाराजा भृत्यहरि को किसी ने एक ऐसा फल अर्पण (नज़र) किया था, कि जिसके खाने से वृद्ध युवा समान हो जाते थे। वह फल राजा ने अपनी प्राण प्रिया रानी को दिया, कि वह तरुण हो जावेगी। रानी ने अन्य पुरुष जिस पर वह आशिक़ थी उसको दिया और चाहा कि यह

तरुण होगा, तो मुझे आनन्द देगा। उस अभद्र ने अपनी प्यारी पुण्य यापिता (वेश्या) को दिया। वेश्या ने उपहार की लालसा में राजा के नज़र किया। जब राजा को ज्ञान हुआ, कि यह वही फल है, जो मैंने रानी को दिया था। रानी अंतःकरण से दुराचारिणी है। मैं नाहक उस पर मरता हूं! संसार मिथ्या है!! मुझे धिक्कार है!!! देखिये, यह फल किसी दुराचारी से सेवन न हो सका। महाराजा भर्तृहरि इसके सेवन योग्य थे, उन्हीं के पास फल लौट कर आ गया और राजा ज्ञान को प्राप्त होकर विरक्त हो गया। सच है भगवान ही सत्य है। उसी की प्रतीक्षा श्रेष्ठ है तुलसी दास जी कहते हैं:—

चौ० "शास्त्र सुचिंतित पुन पुन देखिय।
भूप सुसेवित वस नहिं लेखिय॥
राखिय नारि यदपि उरमाहीं।
युवती शास्त्र नृपति वस नाहीं"

यह गोस्वामी जी का अनुभविक कथन है। मेरी भी रुचि निवृत्ति में इसी कारण प्रवृत्ति हुई है, जिसके विषय में दो दोहा प्रगट करता हूं। मैं प्रथम अत्यन्त विषयाशक्त स्त्रैण (स्त्री वश) था—ऐसा कि एक समय परमप्रिया के प्रत्यवाय सम्भावना पर मोहित हो गया था:—

दोहा—विरति जनक जोवा जरा, जाया तरुणी दृश्य।
गहे उरज जप जतन जिमि, जर्जर जार अशक्य॥
(ग्रंथकार)

भाव यह , है कि मैंने ऐसी प्राण वल्लभा युवती को जिसका मन सादृश्य कान्त हूं । एक ऐसे वृद्ध सूजी भूच दरूप से वक्षोज स्पर्शन देखा है , कि जिस में वृद्धता क कारण उठने बैठने की शक्ति नहीं थी । देखने से घृणा आती थी । अनुमान होता है , इस प्रलाप प्रेयस का , यह प्रेम विलास कुछ माकाल का है । इस युवती को जननी भी इस वृद्ध की पुरातन गुप्त प्रिया है । वृद्ध ने प्रथम मां पश्चात बेटी पर भी ध्वस्त हस्त फेर दिया है । अतः मेरी प्रसन्नता पर धिक्कार है:-

दोहा—दर वश भे क्यों बावरे , नहिं वामा स्पृश्य ।
भामिनि भूपति भृत्य हरि , सम न रही वर वश्य ॥
(ग्रंथकार)

सुत वनितादि के स्नेह में मग्न होना भारी भूल है किन्तु इन की प्रत्याशा करना लंठता है । सुत वनितादि के स्नेह को जाने दीजिये । अपने खून से प्यारा कोई पदार्थ संसार में नहीं हो सकता है ; इस में जरा कांटा चुभ जाने पर भी पीड़ा ज्ञात होती है ; इस की वृद्धि और संरक्षन निमित्त अनेक उपाय किये जाते हैं ; जीवन दशा रक्त ही पर निर्भर है ; इस की रक्षार्थ अहर्निश प्रयत्न करने ही में तमाम आयु व्यतीत होजाती है ; परन्तु आपत्ति समय यही अपने साथ शत्रुत्व करता है ; यथा:-

प... ...दा को कवन .

... ... परम हित है, कहत श्रुति अस वयन ।
घ... ...रि विचार दुर्दिन, करत कमलहिं दवन ॥
रह.. मधु में लीन मधुकर, प्रेम दे चित चयन ।
निम जान विचार इत उत, फिरत तुरतहि गमन ॥
व्याध्र दीन्हो घाव मृग वर, जात कानन भवन ।
अंग श्रोणित भयो वैरी, खोज दीन्हो तदन ॥
समय असमय विचार ले मन, खोल देखहु नयन ।
कहत सूर सहाय सब कै, रटहु राधा रमण ॥

(सूरदास)

परमात्मा को त्याग सच्चा स्वकीय कोई नहीं है अहं, त्वं का मिथ्या अहंकार है। हमको अपनी ही ख़बर एक क्षण की नहीं है। हमारे कर्तव्य से क्या होता है? हम किसी का पालन पोषण नहीं कर सकते हैं। एक क्षण में मुल्क के मुल्क ग़ारत हो जाते हैं; समुद्र में जहाज़ डूब जाते हैं; रेलगाड़ियां परस्पर लड़ जाती हैं; भूकम्प हो जाता है महामारी हैज़ा प्लेग इत्यादि सैकड़ों प्रकार के रोग प्रचंड हो जाते हैं; परस्पर साम्राज्यों में व साधारणों में व्यर्थ लडाई झगडे खडे होकर सर्व नाश का कारण हो जाता है; कहां तक कहें क्षण मात्र में सारे संसार का परदा उथल पुथल होकर प्रलय हो जाता है।

हमको परमात्मा ने केवल शुभ कर्म करने का अधिकार दिया है ।

श्लोक—कर्मण्ये वाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्म फल हेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्व कर्मणि ॥
(२-४७ गी०)

अर्थ । हे अर्जुन ! तुझे कर्म करने का अधिकार है, कर्म फल का नहीं । तू कर्म फल का चाहने वाला न हो, और अकर्म में आशक्त न हो ।

जैसे किसीने इस नियत से, कि हमारे और हमारे बाल बच्चों के खाने में शुक-प्रिय (अनार) खूब आवेंगे और उन को देख कर फायदा उठावेंगे शुक्रप्रिय का पेड़ लगावे और उन का पालन करे । फलने के समय वह किसी अचानक आघात से नष्ट हो जाँय, तो वह किसे खायगा और क्या खिलावेगा ? किस से उसकी शिकायत करेगा ? उसको अपने मनोर्थ असफलता में अत्यन्त शोक होगा । यदि वह निस्पृहा पेड़ों का पोषण करता, तो उस का पेड़ नष्ट होने का कष्ट विदित न होता । ध्यान देना चाहिये, कि उस को कर्म फल का अधिकार होता, तो उस के लगाये हुये प्रिय पेड़ कैसे नष्ट हो सकते थे । यह काम उस की शक्ति सीमा से बाहर था । इस से फल प्राप्त न कर सका । केवल कर्म करना ही हाथ रहा । किसी ने चाहा कि मेरे पास एक बड़ा अष्टैश्वर्य होता तो जहाँ मैं जाता बड़ा ऐश्वर्य्यवान् समझा जाता

इस मनोर्थ की सफलता के लिये अन्याय द्वारा द्रव्य प्राप्त कर घोड़ा लेकर ऐश्वर्य्यवान् बन गये । दैवात् घोड़े से गिर गये और हाथ पैर में चोट आगई, तो फिर ऐश्वर्य्यता लंगड़ी हो गई; गुमान चूर २ होगया; यदि भारी चोट खाकर लम्बा सफर कर गये, तो घोड़े की दुर्वासना ने घोड़ेवाले को घोड़ा बनालिया और यम पुर को चाबुक मारकर लेगई। कोई स्त्री चाहे कि मैं अपने व्यभिचार कर्म से सुंदर नथ बनवाऊँ । एवं उसने नथ बनवाली, परन्तु उसकी नाक किसी कारण कट गई, अथवा पीनस रोग से टपक गई । फिर वह नथ कहाँ विराजमान् होगी, जो उसने ईश्वर का अधिकार भुला कर अपने अधिकार में बनवाई थी। निस्वार्थ काम करने से मनुष्य प्रवृत्ति को प्राप्त नहीं होता ; यथाः-

विविक्त बोधात्सृष्टि निवृत्तिः प्रधानस्य सूदवत्पाके ।
(३-६३ सांख्य)

अर्थः-सृष्टि की निवृत्ति बोध हो जाने पर इस प्रकार जानना चाहिये ; जैसे, रसोई सिद्ध होने पर रसोइया की ।

नर्तकीवत्प्रवृत्तस्याऽपि निवृत्तिश्चारितार्थ्यात (३-६९ सांख्य)

अर्थः-नटनीवत् प्रवृत्ति (प्रकृति) की भी निवृत्तिहो जाती है।

जानना चाहिये और निश्चय करना चाहिये, कि हमारी आयु, हमारा बल, और हमारा ऐश्वर्य्य इत्यादि कुछ स्थिर नहीं है, और न हमारे हाथ में है, तो हम क्यों कर अपने सम्बन्धियों के पालक-पोषक हो

सकते हैं। इन व्यर्थ अन्याय कर्म कर पापाचारी बनते हैं। सारी सृष्टि का जन्म पालन होता है वैसेही इन सब का भी होगा। परमात्मा ही सब सृष्टि का उत्पत्ति, स्थिति, और लय का कारण है। वही सब का चक्रिक है।

विचार कीजिये! देखिये!! उसने पशु से लेकर मनुष्य पर्य्यन्त कैसा उत्पत्ति, स्थित, और लय का ढङ्ग नियत किया है, कि स्वतः (अपने आप) सब काल भव चक्र का चलू रहता है। किसी दृष्टा (हवालदार) की भी आवश्यकता नहीं है। ध्यान दीजिये! सृष्टि कर्ता ने कामदेव में कितनी प्रचंड शक्ति प्रज्वलित की है, कि चींटी भी उसकी उमंग में मतवाली हो जाती है। महादेव, नारद सरीखे योगी उसके चक्कर में आजाते हैं। स्त्री समागम में कितना आनन्द प्राप्त होता है, जिसकी सीमा नहीं; यदि ऐसा आनन्द मैथुन में न होता, तो इस घृणित कर्म को कौन करता; और क्यों कर सन्तान उत्पन्न होती? सन्तानोत्पत्ति के निमित्त ही काम वासना है जो तीव्र और आनन्द प्रद है। जिससे स्त्री पुरुष का अवश्य समागम हो कर गर्भाधान हो जाता है। कई विधवा स्त्रियां कामांध होकर प्रसंगित हो जाती हैं, और जब उनके गर्भ स्थिति हो जाती है, तो उसके पतन करने का उद्योग करती हैं, अथवा बालक उत्पन्न होने पर कहीं फेंक देती और मार डालती हैं। इस से सिद्ध होता है, कि मनुष्य को गर्भ प्रिय न होकर कर्म क्रिया अधिक प्रिय है। यद्यपि स्त्री को बालक उतना प्रिय नहीं है; परन्तु जिस क्रिया से बालक होता है, वह क्रिया बालक से भी विशेष प्रिय है [illegible] और समय स्त्री कहने लगती

हैं, कि अब कभी पुरुष प्रसंग न करूँगी और निवृत्त होने पर फिर गले लगने लगती है, अर्थात् उस पीर को फिर सहन करने को लालसा करती है।

जब बालक उपन्न होता है, स्त्री के स्तनों में स्नेह युक्त दुग्ध पैदा हो जाता है। बालक शरीर से बाणी से कितना सुथरा और प्यारा प्रतीत होता है, कि सब कोई प्यार करने को चाहता है। यह कारण उसकी रक्षार्थ है; यदि ऐसा न होता तो उसकी रक्षा होना सुगम नथा। जब बालक हृष्ट पुष्ट हो कर तरुण हो जाता है, अर्थात स्वयं रक्षक बन जाता है, तो फिर ऐसा प्यार योग्य सौन्दर्य्य उस में नहीं बसता। संसार में इस के विपरीत भी सृष्टि पाई जाती है। जैसे सर्पनी अपने बच्चों को खा जाती है, उसको कुछ प्रेमास्वादन-रस बच्चों की ओर नहीं होता। इस लिये उसके अगणित बच्चा पैदा होते हैं; जिन में दस पाँच उसके चुंगल से बचही जाते हैं।

पशुओं के बच्चे पैदा होते ही दौड़ने लगते हैं, यदि वह न दौड़ सकते, तो उनको मां का साथ कैसे रहता; क्यों कि उनकी मां के उनको उठाकर लेजाने को हाथ नहीं हैं

मनुष्य का भोजन अन्न है। गाय, भैंस, अश्व इत्यादि का भोजन घास है। उष्ट्र इत्यादि का भोजन पत्ते हैं। हाथी का भोजन लक्कड़ (गेड़ा) हैं। मनुष्य के अन्न पैदा करने को और भोजन सिद्ध करने को हाथ, पैर, और बुद्धि (अक्ल) है। पशुओं के हाथ; पैर, और बुद्धि नहीं है, इस कारण उनको भोजन सिद्ध करने की आवश्यकता भी नहीं है। उन को भोजन जंगलों में स्वयं सिद्ध हैं,

और सुगमता से प्राप्त होता है। वृक्षों से पत्ता तोड़ने को, ऊंट की गर्दन लम्बी होती है। हाथी के लकड़ तोड़ने को सूँड़ होती है। अन्न की अपेक्षा घास, घास की अपेक्षा पत्र, और पत्तों की अपेक्षा लकड़ अधिक मिलते हैं। मनुष्य का अहार थोड़ा है, गाय, बैल इत्यादि का ज्यादा है, ऊँट का उससे भी ज्यादा है, और हाथी का सब से ज्यादा है। इससे क्रमशः अन्न, घास, पत्ते और लकड़ खाने को बनाये गये हैं; और ओतन चबाने का भोजन के योग्य मृदु कठोर जीभ, दांत, और मसूड़े इत्यादि बनाये गये हैं। यदि यह सब बातें क्रम पूर्वक सयौक्तिक (फिट) नहीं होती अक्रन अयौक्तिक (अनफिट अथवा किसी के विरुद्ध होती; अर्थात मनुष्य को ज्ञान न होता, पशुओं की जीभ इत्यादि कठोर न होती, ऊँट की गर्दन लम्बो और हाथी के सूंड़ न होती; तो यह सब प्राणी सारी सृष्टि के अस्तव्यस्त कैसे जीवित रहते। चींटी कितना सूक्ष्माकार जन्तु है; और उसकी घ्राण शक्ति कितनी तीव्र है, कि क्षिप्त स्थान में भी भोजन की सुगंधि लेकर पहुंच जाती है। मनुष्य को भी यह शक्ति नहीं है। इस सृष्टि का कर्ता कोई हम नहीं हैं; और कर्ता का अभाव भी नहीं है-इस मीमांसा का यही निश्चयात्मक सिद्धान्त है। ईश्वर की आस्तिकता इससे सिद्ध होती है। जबकि ईश्वर के ऐसे अपूर्व नियम विद्यमान हैं, वही सृष्टि का कर्ता धर्ता निश्चय होता है, तो उसके अस्तित्व में सिवाय उसके न कोई किसी का पालने वाला, न कोई किसी का मारने वाला हो सकता है। हमारा ख्याल झूठा है। हम स्वयं कर्ता बनकर बेगार की सी गठरी शिर पर रख कर पुरहसर (अगुवा) बने फिरते हैं; और अपना सन्मार्ग छोड़

पराये पीछे कुटिल मार्ग पर उन्ही के डंडे खाकर कांटों में चुभते फिरते हैं ।

रचना नुपपत्तेश्चा नानु मानम् (२-२-१ वे० दर्शन)

अर्थः—सृष्टि की संयौक्तिक रचना से भी अनुमान होता है (कि ईश्वर है)

श्लोक—सुखस्य दुःखस्य न कोपि दाता परो ददातीत कुबुद्धि रेसा ।
अहंकरोमीति वृथा भिमानः स्वकर्म सूत्रम् ग्रथि तोहिं लोकः ॥

अर्थ—सुख और दुःख का देने वाला कोई भी नहीं है यह अज्ञानता है; कि अन्य कोई हमें सुख दुःख देता है । मैं कर्ता हूं यह अहंता वृथा हैं । मनुष्य स्वकर्म सूत्र से बंधे हुये सुख दुःख का अनुभव करते हैं ।

हम स्वयं संसार में हमेशा रहने को नहीं आये—

"रहा है न कोई यहां रहे है न कोई यह जाने सब कोई
पै न माने मोह पड़ गये ।" × × × × (छविनाथ)

जब हमेशा नहीं रहना है, तो पापिष्ट कर्मों का करना क्यों है ? जिस समय लंकेश रावण ने मारीच को रामचन्द्र जी के साथ छल करने पर बाध्य किया, उस समय जो मारीच ने विचार किया उससे कैसा उत्तम ज्ञान सम्बोधक आशय प्रगट होता है—

श्लोक—रामा दपिच मर्तव्यं मर्तव्यं रावणा दपि ।
उभयोर्यदि मर्तव्यं वरम् रामो न रावणः ॥
(मान्नाटके)

चौ० उभय भांति ताकेउ जब मरणा ; लीन्हो तब रघुपति कर शरणा ।　　　(तु० रा० आ०)

अर्थः-(मारीच ने सोचा) राम से भी मरना है और रावण से भी मरना है, यदि दोनों भांति मरना है, तो राम से (मरना) श्रेष्ठ है रावण से नहीं ।

आशय-सत्कर्म रूपी राम से अर्थात् संसार में सच्चे काम करके भी मरना है, और असत्रूपी रावण अर्थात् झूठे काम करके भी मरना है । जबकि प्रत्येक दशा में मरना ही निश्चय है, तो सदाचार का प्रति पालन करना श्रेयस्कर है-दुराचार का नहीं, यदि सदाचार पर मरेंगे तो कृतकृत्य के भागी होंगेः—

पहलवां हो कि बहादुर होकि रूसतम हो कोई ।
मौत हरगिज़ नहीं छोडेगी कमर खम हो कोई ॥
(हमारे उर्दू उस्ताद सेख अमानत)

श्लोक—जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्यच ।
तस्माद परिहार्येऽर्थे नत्वं शोचितु मर्हसि ॥
(२-२७ गी०)

अर्थः-जो जन्मता है उसका मरना और जो मरता है उसका जन्म होना निश्चय है । इस से इस निरुपाय कार्य्य को सोचना योग्य नहीं है ।

ससार सागर में अनेकों , जीव जन्मे हैं सही ।
पर रहा कुछ भी नहीं , नामो निशां उनका नही ।
जो हुये संसार में तज , प्राण रत सत्याग्रहो ,
मरगये तब भी रहे यक , जीवतं मुर्दे यही ,

(ग्रंथकार)

जिस समय भोज के चचा मुञ्ज ने यह विचार कर, कि " भोज बड़ा प्रवर्य प्रज्ञायुक्त प्रदीप्तमान बालक प्रतीत होता है । वह अपनी प्रबलायु में मेरा प्रतियोगी होकर अपने प्रथित खम्भ प्रस्थित करेगा । " भोज को मारने का हुक्म दिया ' जब राजा का प्रचोदित वत्सराज नामक मंत्री भोज को मारने के लिये विपिनि में ले गया । और वहाँ भोज से मंत्री ने प्रणय पूर्क कहा , कि आप के चाचा मुंज ने आपके प्राण सङ्कर्षण का आदेश किया है । उस समय प्राज्ञ प्रेक्षण भोज ने प्राण प्रत्यवाय का किंचित शोक न कर मंत्री को उत्तर दिया , कि आप निष्करुण चित्त से मेरा शिर काट कर ले जाइये । केवल इतनी कृपा कीजिये , कि यह श्लोक जो मैं आप को लिख कर देता हूं,, मेरे छिन्न शीर्ष के साथ मेरे चचा को दे देना मनुष्य कर्मानुसार फल पाता है । मेरा प्रादुर्भाव इसी निमित्त हुआ होगा । महात्मा प्राण आवागमन का शोक नहीं करते । ऐसा अध्यात्म शास्त्रों में प्रोक्त है वत्सराज भोज का इस प्रकार प्रचुर प्रतोप देख कर दया के कारण उसके मारने को समर्थ न हुआ । किन्तु भोज को गृह ले जाकर उसका संरक्षण किया , और मुञ्ज को विश्वास-नीय भोज के सदृश कृत्रिम शिर बनवाकर दिखला दिया

उसी के साथ वह श्लोक जो भोज ने लिखे थे दे दिये। राजा इन श्लोकों पर विचार कर अपने कुत्सित कर्म पर बहुत पश्चाताप करने लगा। इस घोर पातक की चिन्ता से वह इतना व्याकुल हुआ, कि उसको अपना जीवन भी निरर्थक अनुभव होने लगा। जब मंत्री ने राजा की यह दशा देखी तो भेद प्रगट कर दिया अर्थात् कह दिया, कि मैं ने भोज को नहीं मारा आप विकम्पित न हों। राजा मंत्री की प्राण संजीवनी वाणी सुनकर अति प्रहृष्ट हुआ और भोज को राज सिंहासन पर प्रतिष्ठित कर आप राज्य का त्याग कर--जिस के लिये वह प्रथम हत्यारा हुआ था--विरक्त हो गया। वह श्लोक यह है:—

"मान धाता समही पतिः कृत युगेऽलंकार भूतोगतः
सेतुर्येनमहो दधौ विरचितः कासौ दशा स्यान्तकः।
अन्ये चापि युधिष्ठिर प्रभतयो यास्तं गताभूपते
नैके नापि गता वसुमती मन्ये त्वया सास्पती।"
(१७ भों०)

अर्थः—सतयुग में भूमि भूषण प्रतोपी राजा मानधाता, त्रेता में समुद्र का सेतु बांधने वाले और रावण को मारने वाले रामचन्द्र, और द्वापर में युधिष्ठिर इत्यादि बड़े बड़े राजा इस संसार से चले गये। कहो अब वे कहां हैं; उनके किसी के साथ पृथ्वी नहीं गई है, पर मैं जानता हूं अब तेरे साथ जायगी।

जो स्वयं विषयों को त्यागता है, वह दुखी होने पर भी सुख का अनुभव करता है। कपिल मुनि का कथन है:—

" विवेकान्निः शेष दुःख निवृत्तौ कृतकृत्यो नेतरान्ने तरात् ।

(३-८४ सांख्य)

अर्थः-विवेक से निश्शेष दुखों की निवृत्ति होने पर कृत कृत्य होता है-अन्य (साधन) से नहीं ।

श्येन वत्सुखी दुःखी त्याग वियोगाभ्याम् ॥

(४--५ सांख्य)

अर्थः-श्येन पक्षी (बाज़) के समान सुख और दुःख त्याग और वियोग से होता है ।

अहिनिर्ल्वयनी वत् (४-६ सांख्य)

अर्थः-सर्प कांचली के समान ।

छिन्न हस्त वद्वा (४-७ सांख्य)

अर्थः-छिन्न हस्त के समान ।

असाधनाऽनु चिन्तनं बन्धाय भरत वत् । (४-८ सांख्य)

अर्थः-असाधन का अनुचिन्तन करना भरत के समान बंधन कारक होता है ।

बहुभियोंगे विरोधो रागादि भिः कुमारी शंखवत् ।

(४-९ सांख्य)

अर्थः-बहुतों के साथ से विरोध उत्पन्न होगा, कारण कि राग द्वेषादि होंगे; जैसे, कुमारी के शंखों चूड़ियों) में।

द्वाभ्यामपि तथैव। (४-१० सांख्य)

अर्थ-वैसा ही दो से विरोध होता है।

निराशः सुखी पिंगलावत (४ ११ सांख्य)

अर्थः-आशा रहित मनुष्य पिङ्गला (वेश्या) के समान सुखी रहता है।

अनारम्भेपि पर गृहे सुखी सर्पवत्। (४-१२ सांख्य)

अर्थः-आरम्भ न रहने पर भी सुख होता है, पर गृह में सर्प के समान॥

कृतनियम लंघना दानर्थक्य लोकवत्। (४-१५ सांख्य)

अर्थः-नियम के करने में अंतर (नागा) होने से अनर्थ होता है, लोक के समान।

तद्विस्मरणेऽपि भेकीवत्। (४-१६ सांख्य)

अर्थः-उस नियम का विस्मरण अर्थात् भूल होने पर भी (अनर्थ) होता है भेकी के समान।

अथा दुःखात् क्लेशः पुरुषस्य न तथा सुखाद भिलाषः

(६-६ सांख्य

अर्थः-पुरुष को जैसा क्लेश दुःख से होता है, वैसा अभिलाष (हर्ष) सुख से नहीं होता है।

कुत्राऽपि कोऽपि सुखीति । (६-७ सांख्य)

अर्थः-कदाचित कोई सुखी हो, तो हो, (नहीं तो सुखी कोई नहीं है)

तदपि दुःख शबलमिति दुःखपक्षे निक्षिपन्ते विवेचकाः

(६-८ सांख्य)

अर्थः-(वह सुख भी केवल सुख न होगा किन्तु) वह भी दुःख संमिश्रित होगा. इस से विवेकी पुरुष दुःख पक्ष में उसको भी डालते हैं।"

पद--मेरे प्यारे ! नैन पट खोलो रे, एक दिन जाओ रे,

थोड़े दिनन को है जग जीना, आश सब त्यागो रे। मेरे प्यारे०
त्यागे बिना नाना दुःख हूँ है, लोक जब छांडो रे। मेरे प्यारे०
चोंचन हनो मांस युत पक्षी, राग दुख पायो रे। मेरे प्यारे०
है विराग अतिही सुख पायो; मास महि डारो रे। मेरे प्यारे०
(अंधकार)

एवं विचार करने से मन को समाधानता का आविष्कार; और सत्य में निश्चलता का आवेश होता है। जिससे चित्त वृत्तियों का आवर्जन और आत्मा का समनुमज्ज होता है। अन्यथा मन बड़ा चञ्चल है, इसका निरोध करने से

और भड़कना होता है। बिजली की भांति इसकी स्थिरता नहीं होती। इसके व्यापार के हेत त्रिलोकी का मैदान भी अधिक नहीं है। यह निश्चय से हत्था चुट्टी करता है, धैर्य्य को धोखा देता है, सन्तोष को भुलाता है, और विवेकी की आँखों में धूल डालता है। सोते हुये को दशों दिशाओं भटकाता है। बैठे को टहलाता है। यह कितना लम्बा और चौड़ा है कोई भी बतला नहीं सकता। संयम को रुलाता है, अज्ञान को हंसाता है, ज्ञान को भुलाता है, और कई प्रकार से भ्रम का प्रहसन करता है। इसको एक बोतल का स्वाभाविक उन्माद सर्वदा बना रहता है। सत्य सेवन ही इसकी उत्तम महौषधि है। बलवती आत्मा का बल सङ्घर्षणीय कार्य्यों का न करना श्रेष्ठ पथ्यावधि है।

इति गीता सययोग पञ्चम् पोड़ समाप्तः।

षष्ठम् पोड़ ।

सत्या सत्य निर्णय ।

निस्संगेऽप्युप रागोऽविवेकात् । (६–२७–सांख्य)

अर्थ—अविवेक से निस्संग में भी उपराग है।

(अ)बतक यह बतलाया गया है, कि सत्य मोक्ष का द्वार है। सत्य त्याग कर मोक्ष मार्ग में खड़ा होना भी असम्भव है। सत्य भाषण परम धर्म है और असत्य भाषण अधर्म। (पाप) है। परन्तु कभी कभी इसके विपरीत सत्य का असत्य और असत्य का सत्य फल प्राप्त होता है। अतएव सत्याग्रही, मुमुक्षुओंको यह जान लेनाभी अवश्यक है, कि सत्य क्या है? "प्रतारक लोगकिसी को धन ठगने के लिये मारते हों और हम उसका असत्य द्वारा संरक्षण कर सकते हों तो करना चाहिये या नहीं"? समाज में रहकर लौकिक व्यवहारों का निर्वाह करना और सत्य सीमा का उल्लङ्घन न होना "कुत्तों की शाला में आटे का दीपक जलाना है" फाग का खेलना और अंग का बचाना आसान काम नहीं है। हमको उन लोगों का मत मान्य नहीं है, जो फाग ही नहीं खेलना चाहते, अर्थात् गृहस्थ आश्रम छोड़ त्यागी बनकर निकल जाना और घर घर भिक्षा

मांग मांग कर खाना अथवा कहीं संत महंत बन बैठना, और स्त्रियों की जगह बालकों, बेटों की जगह चेला रख कर चैन उड़ाना। यह तो, खड्डे से निकल कर कुआँ में पड़ना है। अनन्य कवि का कहना है :—

कवित्त— इंधन विहून आग राखे को निहोरो कहा।
ईंधन में आग राखे ताही को यतन है॥
इन्द्रिन गलत वृद्ध भये कौन साधुता है।
इन्द्रिन वलित बांधे सोई साधुपन है॥
अक्षर अनन्य बिन पाये विष त्याग कहा।
पाय करं त्यागन विराग सोई मन है॥
घर छोड़ बन योग मांडे की युगत कहा।
घर ही में बन करे सोई गुरु जन है॥

(अनन्य कवि)

सत्य समलंकृत परहितैषी गृही मनुष्य ही योगी है। केवल गृह त्यागी योगी नहीं है। गौवध देखकर भाग जाना अच्छा है, कि—गौओं की रक्षा करना और बधिक को मोड़ना अच्छा है? नामर्द होकर ब्रह्मचर्य्य सेवन करना अच्छा है, कि—मर्द रह कर स्त्रियों की संगति न करना अच्छा है? अधर्म स्थान देखकर टहल जाना प्रशस्त है, कि—वहाँ रहकर अधर्म प्रभ्रंश कर डालना प्रशस्त है? व्रण का विदीर्ण करना उत्तम है, कि—व्रण वाले की गालियाँ अथवा आर्त वचन सुनकर, क्रोध अथवा दया से हट जाना उत्तम है? अम्बा नाम के एक मुहर्रिर मवेशी खानाने ;-मवेशी खाने की नौकरी से इस्तैफा दे दिया था

और इसलिये कम आय की नौकरी को स्वीकृत न किया था। इस कारण कि सवेशीखाना की नौकरी में गौओं का दोष लगता है -- यह ध्यान उसका धार्मिक था ; परन्तु यदि वह धर्म तत्व को भली भाँति जानता होता, तो कदापि उक्त कारण नौकरी को न छोड़ता ; क्योंकि उसके रहने से गौओं को दुःख न होता। उसने तो धर्म ही ग्रहण किया ; परन्तु गौओं का दुःख दूर न हुआ। धर्म पुरुषों को विशेष कर ऐसी नौकरी अथवा कोई काम करना चाहिये जिसमें पराया हित हो। " अनाथ—आपन्न की सहायता न करना, पाप से बचने के लिये अपनी जान को ले भागना कायरता है। और कायरता गुण नहीं, दोष है : यथा गीतायाम् :--

श्लोक—कुतस्त्वा कश्मल मिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्य जुष्ट मस्वर्ग्य मकीर्ति कर मर्जुन ॥ (२—२ गी०)

अर्थः- हे अर्जुन ! यह अज्ञानता तुमको विषम समय (युद्ध में) कहाँ से प्राप्त हुई, जो अनार्य्यों के सेवने योग्य, स्वर्ग को न ले जाने वाली, और अकीर्ति की करने वाली है।

जो गृह छोड़ देते हैं अथवा गृह में रहकर सत्य का ग्रहण नहीं करना चाहते, उनको सत्या सत्य निर्णय से कोई प्रयोजन नहीं है। —जो गृह छोड़ देते हैं, उनको झूंठ बोलने की क्या आवश्यकता ? है क्यों कि वह आध सेर आटा आसानी से प्राप्त कर सकते हैं -- बहुधा वह भी झूंठ का पूर्ण परित्याग नहीं करते, वृथा त्यागी बनकर डोलते हैं-जो गृही परमात्म-शक्ति और अपने अंतिम परिणाम

को भुलाकर गृह में आशक्त रहते हैं, वह तो सत्य के झंझट से दूर ही हैं —परन्तु जो गृही हैं और सत्य उपासक भी हैं, उनको उभय प्रवाह के टक्कर जनित भयंकर भौंरों में भ्रमन करना कठिन है। तलवार अपनी यथार्थ होती है। यही असावधानी से काम में लाई जाय तो अपना खून कर देती है। अग्नि का सननुभव सेवन सर्व हितप्रद होता है और प्रमादित होने से जला देता है। वैसे ही सत्य भी कल्याण कारक है, पर इसी के विपन प्रयोग से कौटिल्य फल उद्भव होता है। यह दोष असावधानी, सावधानी अज्ञान करके मनुष्यों से होता है। असावधानी और सावधानी के प्रतिकार का वर्णन गत पोड़ में किया गया है। अज्ञानता का वर्णन यहां किया जाता है। यदि कोई तलवार से कुल दारादि का हनन कर वैरागी बनना चाहे, तो क्या वह हत्यारा वैरागी हो जायगा नहीं! नहीं!! "नहीं, नहीं क्यों? हो सकता है!!!" अरे! कहीं ऐसे भी वैरागी होते हैं, कि अपने बाल बच्चों को मार कर वन को चले जावें!! यह कहिये, कि बाल बच्चों को छोड़ कर वन को चले जावें।

"जो अपनी अज्ञान औरत और नादान बच्चों को अनाथ कर गृह से निकल जाते हैं। वह उनको मारडालने से भी बुरा करते हैं। रोगी को त्याग देना अच्छा कि उसकी सहायता करना अच्छा? हम ऐसे मत के अनुकूल नहीं हैं। हम, तो उनको हत्यारा भी कह सकते हैं, क्यों कि प्रथम तो आप गृह छोड़ घर २ भीख मांगते हैं और फिर बाल बच्चों को भी इसी रस्ता का कर जाते हैं। यही अज्ञानता है। गृह का छोड़ देना त्याग नहीं है।"

चौ०—रघुकुल रीति सदा चल आई, प्राण जाहिं पर वचन न जाई
(तु० रामा०)

महा राजा भृत्य हरिने कहा है:—

श्लोक—लज्जा गुणौघ जननीं जननी मिवस्वा - मत्यन्त ।
शुद्ध हृदया मनु वर्त्तमा नाम् ॥
तेजस्विनः सुख मसूनपि सन्त्यं. जन्ति ।
सत्य व्रत व्यसनिनोन पुनः प्रतिज्ञाम् ॥
(१-१० नी० स०)

अर्थः—सत्य वादी तेजस्वी पुरुष अपने प्राणों को सुख पूर्वक त्याग देते हैं; परंतु लज्जा गुणों को पैदा करने वाली जननी के समान, अत्यन्त शुद्ध हृदय वाली, सदैव स्वाधीन रहने वाली, ऐसी प्रतिज्ञा को नहीं त्यागते।

सारतत्व उक्तकथन का यह है, कि सत्य प्राणों सेभीप्रिय समझना चाहिये; और असत्य का सूक्ष्म आवरण भी हृदय पर अच्छादित न होना चाहिये। हाँ; अनृतवाद उस समय ग्रह्य हो सकता है, जब कि प्राणों से भी अधिक प्रिय कोई वस्तु प्राप्त होती हो। यद्यपि हँसी में, स्त्रियों के साथ, विवाह समय, प्राण संकष्ट में, सम्पत्ति रक्षा में, और रोगी से अनृतवाद अप्रतिषेध है; 'परतु ऊपरी तौर पर, परार्थ, रसके तुल्य'—जैसे, शुद्ध विष काम में लाया जाता है, वैसे ही असत्य भी शोधन किया हुआ लाभदायक होता है—उपरोक्त स्थलों मे मिथ्या भाषण की विद्व-

कहना चाहिये, ऐसा भीति में भी कहा है; जैसे, काने मनुष्य से काना कहकर उसका दिल दुखाना हिंसा रूप है:-

श्लोक—सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यादपि हितं वदेत् ।
यद् भूत हित मत्यन्तं एतत्सत्यं मतं मम ।
(३२६-१३१२८७-१६ शां०म०भा०)

अर्थः—सत्य भाषण श्रेष्ठ है; परन्तु जिस वक्तृत्व में सर्व प्राणियों का हित हो; वही हमारे मत से अच्छा है। प्राणियों का अत्यन्त हेत सत्य ही है ।

श्लोक—न नर्म युक्तं वचनं हिनस्तिन स्त्रीषु राजन्न विवाह काले ।
प्राणात्यये सर्व धनापहारे पञ्चानृतान्या हुर पात कानि ।
(८२-१६ म० भा० आ०)

अर्थः-हंसी में, स्त्रियों के साथ, विवाह काल में, प्राण संकट में, और सम्पत्ति रक्षा में मिथ्या वाद पाप नहीं होता।

और यह भी कहा है कि:—

श्लोक—आत्म हेतोः परार्थेवा नर्म हास्या श्रया तथा ।
नेमृषा न वदन्तीह ते नराः स्वर्ग गामिनः ॥
(१४४-१९ म० भा० अनु०)

अर्थः—जो मनुष्य स्वार्थ में अथवा परार्थ में और ठट्ठे में भी कभी मृषावाद नहीं करते हैं; वह स्वर्ग गामी होते हैं।

बम्बई में न हो उसके ध्यान में बम्बई में था, तो यह वाक्य असत्य सूचक नहीं हो सकता। जैसा देखा वा सुना हो ऐन मैन कह देना सत्यता है। ऐसा भी हो सकता है, कि जो आचरण जन समाज को कल्याण दायक हो; चाहे वह बहिरंग दृष्टि से मिथ्याचार कहा जाता हो-सत्य जनक हो सकता है। जिस वाक्य का शब्दोच्चार यथार्थ हो, और आशय उसका यथार्थ नहो, वह वक्तव्य सत्यशील नहीं हो सकता; जैसे कोई कहे, कि मैं घूँस (रिसवत) में एक पैसा नहीं लेता हूं, और वह केवल एक पैसा न लेता हो; किन्तु रूपयों की ढेरी हप करजाता हो, तो वह शब्दोच्चार से सत्य वादी नहीं हो सकता। प्रत्युत महा मिथ्यावादी कहा जासकता है, क्यों कि यह तो किसी के मन का समाधान कर के सरासर धर्म को धोखा देना है। देखिये, भगवान् 'रामचन्द्र, ने बाली को छिप कर मारा था, बाली यद्यपि कुमार्ग गामी था; तथापि कहाजाता है, कि बाली ने व्याधि होकर 'कृष्ण, को मारा था, अर्थात पूर्व का प्रतिकार किया था। अर्जुन ने भीष्म को शिखंडी की ओट में मारा था, कि अर्जुन को अपने ही पुत्र बभ्रुवाहन द्वारा प्राणान्तक कष्ट भोगना पड़ा था। युधिष्ठिर ने अश्वत्थामा हाथी के मरने पर द्रोणाचार्य को, 'अश्वत्थामा पुत्र, मरने का धोखा दिया था जिसका युधिष्ठिर को यह प्रायश्चित्त हुआ था, कि संग्राम भूमि में उनके रथ की गति सामान्य रथों के समान हो गई थी और नरक मात्र नर्क भी देखना पड़ा था। जिस वाक्य का शब्दोच्चार यथार्थ नहीं है, परन्तु आशय उसका यथार्थ है, तो वह वाक्य सत्य से विलग नहीं हो सकता। 'सत्य भी अप्रिय हो, तो नहीं

निर्लिप्तता ; निर्लिप्तता से संसार की निवृत्ति, संसार की निवृत्ति से जन्म का न होना ; जन्म न होने से क्लेश कर्मादि से छुट्टी पा जाना ही मोक्ष है।

सत्य धर्म का पालन कुछ शब्दोच्चार ही से अभीष्ट नहीं है ; सत्य उसी का नाम है, कि जिसमें किसी को पीड़ा न हो। इसी लिये अहिंसा सब धर्मों में श्रेष्ठ और प्रथम धर्म माना गया है। "हातम की सखावत, नो शेरवां की अदालत अब तक प्रसिद्ध है"।

रामायण में भी कहा है:-

चौ०—परहित सरस धर्म नहिं भाई, परपीड़ा सम नहिं अधमाई।

सत्य धर्म का उपदेश अहिंसा की रक्षार्थ है, न कि वाग्विलास के लिये, शुकवत्। इससे अधिक प्रसस्त है, कि सत्यवाद का शब्दोच्चार समयानुसार चाहे जैसा हो ; परन्तु उसका आंतरिक भाव सत्य युक्त अवश्य होना चाहिये ; जैसे, २ और ३, ४ और १, २ $\frac{१}{२}$ और २ $\frac{१}{२}$, २ $\frac{१}{४}$ और १ $\frac{३}{४}$, २ $\frac{५२०}{६२१}$ और २ $\frac{१०१}{६२१}$, ३·४५६ और १·५४४, और $\frac{५×८×१०×५०×२×३}{२×३×४×१०×१००}$ इत्यादि पांचही होते हैं, पौने पांच या सवा पाँच नहीं हो सकते। कोई कहे, कि अमुक मनुष्य बम्बई में है और उसे मालूम था, कि वह बनारस में है, तो यह कहना झूठ है ; परन्तु कोई मनुष्य बम्बई में है और कोई कहदे कि बम्बई में है ; यद्यपि वह

ऋषिलोग आक्रमण करते हैं (पाते हैं) उस लोक की जय सत्य से होती है—असत्य से नहीं ।

योग में भी कहते हैं:-

सत्व पुरुषयो रत्यन्ताऽसंकीर्णयोः प्रत्ययाऽविशेषो भोगः परार्थ त्वात्स्वार्थ संयमात्पुरुष ज्ञानम् (३-३४यो०)

अर्थः-सत्व पुरुष अत्यन्त संङ्कीर्ण हैं (सत्व बुद्धि और पुरुष अत्यन्त भिन्न हैं) अविशेष प्रत्यय भोग परार्थ होने स्वार्थ संयम करने से पुरुष का ज्ञान होता है, अर्थात् सत्व और पुरुष दोनों में एकसा प्रत्यय 'भोग' कहलाता है इस (अभेद भोग के परार्थ होने से स्वार्थ संयम करने से पुरुष का ज्ञान होता है ।

सत्व पुरुषान्यता ख्याति मात्रस्य सर्व भावाधिष्ठा तृत्वं सर्वज्ञा तृत्वञ्च (३-४८ यो०)

अर्थः-सत्व और पुरुष के भेद ज्ञान का फल सर्व भावों का अधिष्ठाता और सर्वज्ञ होना है।

सत्व पुरुषयो : शुद्धि साम्ये कैवल्यम् (३-५४ यो०)

अर्थः-सत्व और पुरुष की साम्य शुद्धि होने में कैवल्य (मोक्ष है) ।

सत्व से अविद्या का नाश होकर परम वैराग प्राप्त होगा; वैराग से निष्काम कर्म होगा; निष्काम कर्म से

ब्रह्म सत्य है और नित्य है, माया असत्य है और अनित्य है। इस लिये जो ब्रह्म सुख चाहने वाले हैं, उनको पूर्णांश सत्य ग्रहण करना चाहिये। जो अहर्निश सत्य का अभ्यास करेगा, और सत्य से क्षण मात्र भी विलग होना जिसे अभिमत न होगा, उसको अभ्यासवश सारा संसार सत्य मय प्रतीत होगा, और अपने स्वरूप का भी विस्मरण होकर सत्याधिक अनुभव होगा। वह की बुद्धि परम विवेक को प्राप्त होकर सर्व भूतात्मैक्य ज्ञान में विचरने लगे गी, यही मोक्ष की जड़ है:—

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयोहि शुभ्रोयं पश्यन्ति यतयः क्षीण दोषाः। (५-३-१ मुं० उ०)

अर्थः-वह नित्य शुद्ध स्वयं प्रकाशमान् परमात्मा अन्तःकरण में वर्तमान है, इसको यती लोग तप, ब्रह्मचर्य, सत्य और सम्यक् ज्ञान से देखने और प्राप्त करते हैं।

सत्यमेव जयति नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः येनाक्रमन्त्यृष योह्याप्त कामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम्।

(६-३-१ मुं० उ०)

अर्थः-जहां सत्य का परम निधान है, अर्थात जहां सत्स्वरूप परब्रह्म स्थित है, वहां का पंथ सत्य से वितत है और वह पंथ देवयान का है, उसे सत्य धारी (कामना रहित)

[illegible] विषाद बसेरे ॥
[illegible] सहस बाहुसे ॥

२-अनात्मवान्-जिन कर्म के करने में आत्मा की अनुमति न हो और इन्द्रियों की प्रेरणा से किया जाय। ऐसे कर्म का कर्त्ता अनात्मवान् मिथ्यावादी जानना चाहिये, इसे अजितेन्द्रिय भी कह सकते हैं।

३-आलसी-जो आलस के कारण झूठ का उपयोग करे।

४-प्रमादी-जिसका चित्त स्थिर न हो, भूल गफलत से असत्य धार करे।

५-नास्तिक-जिसको ईश्वर के अस्तित्व का विश्वास न हो मैं कर्त्ता हूं ऐसा समझ कर असत्य व्यवहार करे।

६-अनाशक्त-जो किसी उचित कारण से धर्मार्थ असत्य उद्योग करे; परन्तु उस में आशक्त न हो।

७-व्यसनी-जिसे कोई द्यूत, मद्य, अथवा वेश्यागमन प्रभृति व्यसन पड़ गया हो और उसके निमित्त असत्य का उपचार करे।

८-दरिद्री-जो दीनता, व्याकुलता, आर्तता, अथवा किसी आपत्ति आक्रमण से मिथ्या संचार करे।

९-परार्थी-जो दूसरों की भलाई के लिये असत्य का अनुष्ठान करे।

जिसने सत्य का महाव्रत धारण किया हमारे मत से वह सर्व वासना से रहित होकर योगी सिद्ध होगया। सत्य महाव्रत के जितने अंश छिन्न हो जांयगे, उतने अंश नर्क (क्लेश) प्रद होंगे; और जितने अंश संरक्षित रहेंगे उतने अंश स्वर्ग(सुख) प्रद होंगे। यही सत्य, पूर्ण रूप में अनुग्रहीत होकर भवचक्र की गति भी शान्त करदेता है। जबतक असत्य वासना का संस्कार स्थित रहेगा, सत्य का अनुग्रह उदय न होगा।

सत्य के वितर्क अर्थात असत्य की गणना उपरोक्त प्रकार त इस भांति है:—

"जाति, देश, काल, समय, ४ कृत, कारित, अनुमोदित, ३ लोभ, क्रोध, मोह, ३ मृदु, मध्य, अधिमात्र, ३ हिंसा, असत्य, स्तेय, अब्रह्मचर्य्य, परिग्रह ५ अशौच असन्तोष, अतपः, अस्वाध्याय, ईश्वर अप्रणिधान, ५ = ४ × ३ × ३ × ३ × ५ × ५ = २७,०० इसके और भी असंख्य भेद हो सकते हैं; जैसे, १०० रूपया के लिये झूंठ बोलना; एक पाई के लिये झूठ बोलना इत्यादि; दिन घड़ी, तथा क्षण २ में झूठ बोलना इत्यादि; एकबार, तथा बारबार झूठ बोलना इत्यादि। इसीप्रकार अहिंसा, अस्तेय इत्यादि के वितर्कों की भी संख्या हो सकती है।"

सामान्यतः नवधा अभक्त सत्य के और भी बतलाये जाते हैं; यथा:-

१-पापिष्ठी—जो अधर्म रत हो, यथा, तु० राम यणे:-

; परन्तु पेट की अग्नि शांत करने को दो पैसा पैदा करने में व्यापार या अन्य धंदे में अवश्य झूठ कहना पड़ता है, अथवा जब हमको कोई दुःख देता है और हम उस पर, क्रोधित होते, तो उसको फसाने के लिये झूठ बोलते हैं, अथवा अपने अपराधी लड़के को दंड से बचाने के लिये झूठ बोल देते हैं – इन कारणों में हम स्वयं असत्य कहते हैं तथा अन्यों को कहलाने की चेष्टा करते हैं, अथवा ऐसे आसक्त वक्ता की प्रशंसा करते हैं। अथवा कोई कहे, कि हम इतने सत्यवादी हैं, कि कभी पंडित से, गुरू से, राजा से, देवता इत्यादि से मृषा नहीं कहते; अथवा कुरुक्षेत्र द्वारिका, जगदीश, किसी देश विशेष में झूठ नहीं कहते; अथवा अमुक पर्व को जन्माष्टमी, गणेश, ग्यारस इत्यादि को मिथ्या नहीं कहते; अथवा संध्या सवेरे थोड़ी, मामूली व विशेष लाभ के लिये असत्य नहीं कहते। अविच्छिन्न व्रत वही है, जो कभी किसी कारण से छिन्न न हो। अहिंसा अस्तेय इत्यादि भी इसी प्रकार समझना चाहिये।

पूर्व में क्रमशः बतलाया गया है, कि सत्य साधन से सर्व साधन स्वतः साध्य हो जाते हैं। इसी प्रकार यहाँ समझना चाहिये; कि केवल सत्य व्रत धारण करने से अहिंसा, अस्तेय इत्यादि सर्व व्रत स्वतः धारण हो जाते हैं। प्रथक २ धारण करने की आवश्यकता नहीं है; जैसे अलवाई गौ का वत्स ग्रहण करने से गौ स्वयं पीछे २ चली आती है; वैसे ही साङ्गोपाङ्ग अष्टाङ्ग योग सत्य वत्स के आग्रह से पीछे दौड़ा चला आता है। सत्य रहित ध्यान बकूध्यान है।

वितर्क बाधने प्रति पक्ष भावनम् (२ -३३ यो०)

अर्थः-वितर्क हटाने में प्रतिपक्ष (विपरीत) विरोध भावना करनी चाहिये।

वितर्का हिंसा दयः कृत कारितानु मोदिता लोभ क्रोध मोह पूर्व्व का मृदु मध्याऽदि मात्रा दुःखाऽज्ञानाऽनन्ता फला इति प्रति पक्ष भावनम् (२-३४ यो०)

अर्थः—हिंसादि वितर्क कृत, कारित, अनुमोदित, लोभ, क्रोध, और मोह पूर्वक मृदु, मध्य और अधिमात्र भेद ।ले हैं, जिनके दुःख और अज्ञान अनन्त फल हैं, इनकी प्रति पक्ष भावना करना चाहिये।

योग दर्शन में 'यम-नियम'—अर्थात्, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, और अपरिग्रह यह पांच 'यम'; और शौच, सन्तोष, तपस्, स्वाध्याय, औरईश्वर प्रणिधान ये पांच 'नियम,—थोडे बहुत भी लोभ, क्रोध, और मोह के कारण कृत, कारित, और अनुमोदिता से जाति, देश, काल, और समय में कभी भी छिन्न नहीं तो महाव्रत कहलाते हैं। अर्थात् अहिंसा कभी छिन्न नहीं; तो अहिंसा महाव्रत हुआ; सत्य कभी छिन्न नहीं; तो सत्य महाव्रत हुवा; और अस्तेय कभी छिन्न नहीं तो अस्तेय महा व्रत हुआ इत्यादि। यदि कोई कभी जाति, देश, काल इत्यादि से यम-नियम का उल्लंघन करे, तो वह महाव्रती नहीं हो सकता; जैसे, कोई कहे, कि हम बड़े सत्यवादी हैं,

अर्थः—कर्म क्या है और अकर्म क्या है ? इस स्थान में कवियों (विद्वानों) को भी मोह (भ्रम) होता है। (हे अर्जुन) वह कर्म तुझ से कहता हूं, जिसे जान कर मोक्ष को प्राप्त होगा (१६) कर्म (करने योग्य) को भी जानना चाहिये, विकर्म (विपरीत कर्म) को भी जानना चाहिये अथवा 'वि' (विविधि) विविधिकर्म को भी जानना चाहिये-और अकर्म (कम न करने) को भी जानना चाहिये ; क्यों कि कर्म की गति गहन है (१७) जो कर्म में अकर्म, और अकर्म में कर्म देखता है, वही युक्त (योग युक्त) समस्त कर्मों का कर्ता है (१८)

एवं जानना चाहिये, कि सत्य की गति गहन है। सत्य क्या है ? असत्य क्या है ? और विसत्य क्या है ? जो सत्य में असत्य और असत्य में सत्य समझ सकता है, वह पुरुष बुद्धिमान्, विवेकी, और पूर्ण सत्याग्रही, अथवा सत्य योगी-और वही पातञ्जलि योगानुकूल सत्य का महा व्रतधारी भी प्रमाणित हो सकता है जिसका प्रतिपादन और विवेचन पूर्व पोड़ में कियागया है। 'महाव्रत क्या है ?, इसका वर्णन यहां भी किया जाता है:—

"जाति देश काल समयाऽनवच्छिन्नाः सार्व भौमा महाव्रतम्

(२—३१ यो०)

अर्थः-(अहिंसादि, यम नियम के भेद) जाति, देश, काल, समय, से छिन्न न होने वाले 'सर्व भूमि में रहने वाले' महाव्रत हैं।

के लिये मनोहर युवती ढूंढ़ता है । वैसे ही भव बन्धन से छूटने के लिये कोई सम्प्रयोग अन्वेषण करना चाहिये । बन्धन क्या है ? सांसारिक कामव ासनाओं की केवल स्पृहा । इस स्पृहा के निवारणार्थ , केवल एक साधन 'सत्य' तत्व का निश्चय अवलम्बन करलेना , अतिशय सरल और अद्वतीय प्रतिकार है ।

अतएव सत्य तत्व का वास्तविक स्वरूप पहिचान लेना आवश्यक है । जिसने सत्या सत्य का निर्णय भली भांति अनुभव किया है, वह अक्षर सुख पाने का भाग्यशाली हुआ है ; परन्तु यथार्थ तत्व का ज्ञान दुर्बोध्य है । जहां भले और बुरे का समागम होता है, वहां धार्मिक पुरुषों को अनेक प्रकारकी कठोर कठिनाइयां आ उपस्थित होती हैं । जिनका यथेष्ठ निर्णय और निवारण शुद्ध बुद्धि को भी दुर्गम है ; क्यों कि अहो धर्मका क्लृप्तपालन जनक इत्यादि शरीखे कर्मवीर—योगियों को भी चक्कर में डालता है ; यथा कृष्ण भगवान् ने कहा है:-

श्लोक—किं कर्म किम् कर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ।१६।
कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यंच विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणोगतिः ।१७।
कर्मण्यकर्म यः पश्येद् कर्मणिच कर्मयः ।
स बुद्ध मान् मनुष्येषु सयुक्तः कृत्स्न कर्म कृत ।१८।
[अ० ४ गी०]

बढ़ई उसको काट छांट कर प्रसन्न होता है। प्रत्येक को प्रसन्नता देने वाला कोई नहीं हो सकता। शुद्ध परमात्मा भी अनेक गालियां प्रतिक्षण खाता है। भले को बुरा, बुरे को भला, बुरा मालूम होता है। अपना ऐब, अपने को यह जानकर भी बुरा नहीं लगता, कि यह ऐब मुझ में बुरा है। सत्यका विरोध असत्य, न्याय का विरोध अन्याय, और प्रकाश का विरोध अन्धकार हुआ करता है। यदि विरोध का अभाव हो, तो भला बुरा भी ज्ञात न हो मूर्ख लोग ही ज्ञानी के ज्ञान का कारण हैं। अग्नि का ताप न हो तो स्वर्ण का प्रताप न हो। कसौटी न हो तो स्वर्ण की लखौटी न हो। मूर्खता को विवाद बिलोमन से ज्ञान प्राप्त होता है; जैसा, खट्टा दही मथने से मीठा घृत निकलता है। छाया में रहने वाला छाया के सुख का अनुभवी नहीं हो सकता, जब तक कि वह धूप के त्रास से परिचित न हो। क्षुधा की प्रेरणा से भोजन, तृषा की प्रेरणा से जल, और मदन की प्रेरणा से प्रिया प्रिय मालूम होती है। एवं बंधन से मोक्ष का सुख मिलता है, यदि बन्धन न होता, तो मोक्ष का सुख क्या सम्भव होता:—

> नथा तू तब खुदाही था, हुआ बरबाद होने में।
> न होता, तो समझता क्या, मज़ा जो था न होने में?
>
> (कोई शायर)

जैसे मनुष्य क्षुधा से निवृत्त होने के लिये भोजन, तृषा से निवृत्त होने के लिये जल; और काम की शांति

समय रामचंद्रजी वन को निकले थे एक भी सिपाही उनके साथ नहीं किया गया था। पर द्रोणाचार्य ने अपने से अधिक बलवान शत्रु का बीज गौरव नष्ट भ्रष्ट करदिया। जो तन, मन, धन, अर्पण कर संसार का भला करता है, वही वैरागी और योगेश्वर कहाजाता है। मनुष्य को यह न सोचना चाहिये, कि मुझ क्षुद्र के सत्य ग्रहण से धर्म की क्या रक्षा हो सकती है। एक एक बूंद के बर्षने में नदियां उमड़ जाती हैं—

दोहा—कौडी कौडी जोर के, निधन होत धनवान।
अक्षर अक्षर के पढे, मूरख होत सुजान॥

१६ करोड़ के रुजगारों में एक एक धन्धा से २५ लाख रुपया का रुजगार होता है।

कौटिल्य का ह्रास, साधुत्व का विकाश करना प्रत्येक सत्याग्रही का कर्तव्य है। यही सत्य वाद का रहस्य है और इसी में अधिकांश लोगों का अधिक सुख गर्भित है। इस रहस्य का सलिल प्रवाह, जिस अनुष्ठान द्वारा संसार में पूरित हो, उसका उपयोग करना ही सत्यता है। सत्य संस्था को स्थिर करने वाले मनुष्य संसार में थोड़े होते हैं—थोडे तो होते हैं पर यह थोड़े भी अधिक के तुल्य हैं; और वह अधिक थोड़ों का सामना नहीं कर सकते। सौ कौरव पक्ष पांडव के पराक्रम को नहीं पहुंचे— साधू और कुटिल मनुष्य संसार में हमेशा से होते आये हैं, और एक का विरोध दूसरे करते आये हैं। यदि माली वृक्ष को लगा कर पोषण कर प्रफुल्लित न करे, तो

को हटा देना चाहिये। 'राजा' एक का नामहै, और 'प्रजा' समूह का नाम है। एक का बहुत क्या नहीं कर सकते हैं? जंगली कुत्ते समूह बनकर सिंह को गिरा देते हैं। तृण समूह (रस्सी बनकर) कितने मज़बूत हो जाते हैं, कि महाबल- वान हाथी भी उस से बंधजाता है।"

यह तो, चूहों कैसी पंचायत है। बिल्ली का ज़ुल्म चूहे दूर नहीं कर सकते और न बिल्ली को पकड़ सकते हैं।

यह कहना इस लोगों का है, जिन को कुछ ज्ञान नहीं है। उनका आत्मबल चूहों के समान है। चूहे न कभी पंचायत करते हैं, न बिल्ली को पकड़ने जाते हैं। यह एक उपहासिक कहानी है। पर इसी का निर्णय कीजिये ता और भेद निकलता है, कि बिल्ली चूहों पर ज़ुल्म करती है। बिल्ली बिल्लियों पर और चूहे चूहों पर ज़ुल्म नहीं करते। पारस्परिक अत्याचार सब को असह्य है। एक मनुष्य मनुष्य का ज़ुल्म नहीं सह सकेगा। चाहे वह राजा हो अथवा प्रजा। अत्याचारी लोगों का अत्याचार नष्ट करना न्यायाचार का स्थापित करना, सत्याग्रही होकर प्रत्येक मनुष्य का बड़ा कर्तव्य है। यही कर्म मनुष्य को कल्याण प्रद है— और यही योगेशता है। अनेक सत्या- ग्रहियों में एक अत्याचारी का परास्त हो [illegible]ना, तो [illegible] ही है, परन्तु जब अनेक हों तो एक सत्याग्रही अनेक अत्याचारियों का भी नाश कर सकता है। इसका [illegible] रामायण और भारतादि ग्रंथों में मौजूद है। एक श्रीकृष्ण ने जो प्रथम गौओं के चराने वाले ([illegible]) [illegible] बिना शस्त्र ग्रहण किये अनेक कौरवों [illegible] नाश कर दिया एक रामचन्द्र ने अनेक राक्षसों को [illegible]। जि[illegible]

तो क्या बाल बच्चों को तलवार से मारकर चले जाना वैराग्य है जिससे वह घर घर न मांगते फिरें?

यदि कोई अपने पुत्र का ऐसा अत्याचार देख कर जो फांसी होने के योग्य है फांसी पर चढ़ादे, वही सच्चा वैरागी है जो इस सीमा का उल्लंघन करताहै वही न्याया द्रोही समझा जाता है। चाहे वह प्रजा हो या राजा "यथा राजा तथा प्रजा" इस में सन्देह नहीं, कि जहां का जैसा राजा होता है, वहां की प्रजा भी वैसी ही होती है राजा प्रजा का बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है, पिता पुत्र से भी अधिक। पुत्र को मारकर भी प्रजा की रक्षा करना राजत्व है। और राजा से इस भांति की बरबस रक्षा कराना प्रजा का कर्तव्य है। यदि राजा न्याय शील नहीं है, तो यह दोष राजा का नहीं है; किंतु प्रजा का है, जो उसको न्याय प्रशीला नहीं बनाती। यह कहना निरी भूलहै, कि प्रजा राजा का क्या कर सकती है? प्रजा को इस ज्ञान से जाग्रत होना चाहिये। जो प्रजा राजा का चुपचाप अत्याचार सहनकरती है वह प्रजाही अत्याचारिणी है। आज एक मनुष्य अन्याय से मारा गया, कल इसी प्रकार हमको अथवा हमारे सम्बन्धियों को भोगना पड़ेगा। ऐसी धारणा प्रजा के छोटे बड़े प्रत्येक मनुष्य की होनी चाहिये और राजा को उस अन्याय पर कलंकित करना चाहिये। इस प्रकार न्याय प्रशीला प्रजा राजा को भी अपने अनुकूल बना सकती है। यदि राजा न बने, उसको निकाल बाहर कर सकती है; जैसे; कृषिक खेतपर रखवारा नियत करता है, वैसेही प्रजा रूपी खेत पर राजा रक्षक रहता है। जो रक्षा न करके उजाड़ने लगजाय वह रखवारा रखना व्यर्थहै। उस

सम्मति है ; तथापि जहाँ तक हो सके सेवो सत्य ही को करे ; क्यों कि: —

श्लोक—सेवि तव्यो महा वृक्षः फलच्छाय समन्वितः ।
यदि दैवात फलं नास्ति छायाकेन निवार्यते ॥(चाणक्य)

अर्थ—बड़ा वृक्ष सेवने योग्य है, जो फल और छाया से संयुक्त हो दैवात फल की प्राप्ती न हो, तो छाया का सुख अवश्य मिलेगा।

एवं सत्य कथन यदि कल्याण कारक न हो, तो पाप मूलक कभीभी नहीं हो सकता ; जैसे अमृतसे मृत्यु कभी नहीं हो सकती ; यदि सत्य से किसी की हानि होती है तो चुप रहना ही भला है। यद्यपि श्रुत अथवा ज्ञान विषय में चुप रहना या निरर्थक हूं हां कर देना, यह भी असभ्यता है ; परन्तु ऐसा सत्य भी न कहे, जो कि सी को अहित हो ; अहित सत्य भी पाप मूलक है, जैसे, असाध्य रोगी से कहना, कि तुम्हारा बचना दुलभ है—

दोहा—धन दे धरणी राखिये, धरणी देकर प्राण।
प्राण गये पत राखिये, पतहि न दीजे जान ॥(कोई कवि)

संसारमें सत्य से बड़ी इज्जत होती है—यही पत है। सत्य कभी न छोड़ना चाहिये चाहे प्राण छोड़ दे ; परन्तु सत्य यह नहीं कहता है ; कि कोई दुष्ट मनुष्य तुमको मारने के लिये, तुम्हारे गृह में आग लागने के लिए ; तुम्हारा धन छीनने के लिए ; अथवा तुम्हारी औरतों पर बलात्कार करने के लिये आक्रमण करे। तुम सत्यवादी बने उसके दुरा चारों को सहन करते रहो ; और जो कुछ वह कहे उसका सत्य ही उत्तर दो।

ऐसे लोगों को तो जिस तरह हो झूठ-मूठ द्वारा परास्त कर देना ही मंगलीक है ; और न उनको मारडालना ही पापहै ।

वर्तमान क़ानून भी यही कहता है " हिफ़ाज़त खुद में किसी का कत्ल हो जाना गुनाह नहीं है " सत्य योग युक्त होना वही है , कि जो सत्य पर रक्षा और असत्य पर क्रोध कर , सत्य वादी को पालने और असत्य वादी को संहार करने का प्रयत्न करता है ; जैसे, शिक्षक बालक को मारता . चुपकारता , और अनेक कल्पित असत्य) उदाहरणों द्वारा शिक्षा ग्रहण कराताहै । योगी औरसिद्ध पुरुषका लक्षण क्या है ? " समः सर्वेषु भूतेषु " " समत्वं योग उच्यते " परन्तु समता कहते किसे हैं ? समदर्शी का भाव ऐसा होना चाहिये ; जैसे , माली शक्ति हीन पौधों को समभाव में लाने के लिये , शक्ति वर्द्धक क्रिया का उपयोग करता है ; और विषम बढ़े हुये पौधों को काटता छाटता है ।

सत्याग्रही पुरुष का सत्यरूपी सय्या पर सोजाना ही सत्यधर का आर्थिक नहीं है ; अमृतसर के तट पर विस्तर डालने से अमर नहीं हो सकते । यदि ऐसा होता , तो श्री कृष्ण भगवान् अर्जुन को युद्ध करने का क्यों उपदेश करते ? क्योंकि अर्जुन असत्य वासनाओं का प्रथम ही त्याग करचुके थे , यहाँतक कि स्वर्ग साम्राज्य भी देवताओं के भोग से भरा हुआ उनको निरर्थक था । अत्याचारी लोगों का अत्याचार दूर करने अथवा उनका नाश करने निमित्त,प्रयत्न करना प्रत्येक सत्याचारी पुरुष का कर्तव्य है- जो ऐसा करता है , वही पुरुषार्थी और योगी है । कौरवों ने सत्य सीमा का उल्लंघन कर पांडवों पर पाप मूलक तीव्र वृत्तियों का बहुत उपचार किया था , और कृष्ण भगवान् के नीतोपदेश तथा

विग्रह शमन संमुचित शब्दों पर ध्यान नहीं दिया था। इस लिए उन के अनुचित आचार का प्रतिकार मिलना करुणार्द्र इच्छा थी; क्योंकि " धर्म संस्थाप नार्थाय " भगवान् स्वयं सम्भव हुये हैं। यदि कौरव धर्माचारी होते; और उनके विनाश का उपाय रचा जाता, तो वह उपाय अवश्य अघ समर्थन कहा जासकता; हां, कौरव पक्ष में भीष्म और द्रोणाचार्य्य परम पूज्य नीतिज्ञ पुरुष थे। जिनके लिए अर्जुन कहते हैं:—

श्लोक—कथं भीष्म मंहं संख्ये द्रोणांच मधुसूदन।
इषुभिः प्रतियो त्स्यामि पूजार्हावरि सूदन। ४।
गुरू न हत्वाहि महानु भावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमहीप लोके
हत्वार्थ कामांस्तु गुरूनिहैव भुजीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान् ५
(गी० अ० २)

अर्थ:—हे मधुसूदन! मैं भीष्म और द्रोण पर युद्ध में कैसे बाण प्रहार करूंगा। हे अरि सूदन! यह तो पूजने योग्य हैं। ४। महा अनुभवी गुरुओं को न मारकर इस लोक में भिक्षा वृत्ति द्वारा निर्वाह करलेना हीं श्रेयस्कर है (क्योंकि) अर्थ कामनायुक्त गुरू लोगों को भी मारकर मुझे रक्त सने हुये भोग भोगना पड़ेंगे। ५।

ऐसे लोगों के साथ युद्ध करनाही अयोग्य था; परन्तु वह दुर्योधन के पक्ष में थे; और स्वयं दुर्योधन का

पक्ष त्याग नहीं कर सकते थे; यदि करते, तो धर्मनीति का विरोध होता था। जब युधिष्ठिर रणाङ्गण में भीष्म, द्रोण, और शल्य की चरण वन्दना करने गये, तब सबने युधिष्ठिर को आशीर्वाद देते हुये कहा:--

श्लोक--अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थेन कस्य चित्।
इति सत्यं महाराज बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः॥
(म० भा० भी० अ० ४३-३५)

अर्थ:--हे युधिष्ठिर महाराज! अर्थ; किसी का दास नहीं है; किन्तु पुरुष ही अर्थ का दास है, उसी अर्थ से कौरवों ने मुझे बाँध रखा है, अर्थात् हम दुर्योधन की ओर नहीं हैं अर्थ ने दुर्योधन की ओर प्रवृत्त कर दिया है।

भीष्म और द्रोण साधारण योधा नहीं थे; दोनों सेनाओं में इन के समान रणधीर कोई नहीं था; यह किसी से परास्त नहीं हो सकते थे; और जब तक इन योद्धाओं का पुरुषार्थ निःतेज नहीं होता दुर्योधन का पराजय होना दुर्लभ था। भीष्म शिखंडी से हार मानते थे और द्रोणाचार्य अपने पुत्र अश्वत्थामा की मृत्यु सुनकर बल हीन हो सकते थे। इन अवसरों के अतिरिक्त और अवसर इन वीरों के परास्त करने का नहीं था; क्योंकि ऐसा फुर्तीला बाण प्रहारी कौन वीर था; जो इन के शरीर तक बाण पहुँचा सके और यह वीर उसको छेद न सकें। भीष्म शिखंडी के सामने शस्त्र छोड़ देते थे 'निशस्त्र को मारना अनीति है'। अश्वत्थामा मर नहीं सकता था; इस

से द्रोण को पुत्र शोक हो नहीं सकता था। ऐसे विषम समय क्या होना चाहिये ? जब कोई उचित युक्ति भीष्म और द्रोण के मारने की न सूझी, तब निरुपाय परिणाम में प्रायश्चित्त स्वीकार कर असत सेवन किया गया; अर्थात् अर्जुन ने शिखंडी की आड़ से भीष्म को; और युधिष्ठर ने अश्वत्थामा हाथी के मरने पर अश्वत्थामा द्रोण पुत्र की सूचना देकर द्रोण को मारा। जिसका प्रायश्चित्त [दंड] अर्जुन व युधिष्ठिर को भोगना पड़ा; क्योंकि दुष्कर्म की रियायत का पट्टा किसी को नहीं मिल सकता है ।

ऐसे विकट मौका साधारण मनुष्यों पर भी बहुधा आया करते हैं। उनका मार्मिक विवेचन धार्मिक दृष्टि से अति शोच विचार कर करना चाहिये। ऐसे अवसरों के लिये ऐतिहासिक अथवा कल्पित अनेक कथाओं सहित अनेक अनुभवी महात्माओं द्वारा अनेक ग्रंथ उदय हुये हैं; जिन में महाभारत इसी तत्व से लबालब भरा हुआ है; और जब ही इस तत्व के खूब समझाने के लिये भारत का महाभारत हो गया है। हमारे प्राचीन और आधुनिक ग्रंथ किसी अवसर के लिये, यह जवाब नहीं देंगे, कि ऐसा उदाहरण हमको मालूम नहीं है। सत्य चाल चलना बड़ी बुद्धि मत्ता है। अनेक अड़चन ऐसे उपस्थित होते हैं; जिन में सत्य रक्षा करनां अगम्य हो जाता है; वहाँ प्राण भी न्योछावर कर देना पड़ते हैं; जैसे पूरणमल्ल की लघु माता फूलंदे ने पूरणमल्ल को फाँसी पर चढ़वा दिया था; परंतु पूरणमल्ल ने सन्मार्ग से क़दम नहीं हटाया था ।

किसी कार्य्य के परिणाम की ओर ध्यान देकर उसकी नीतिमत्ता निश्चित करना चाहिये; यदि यह विश्वास हो, कि मृषावाद से इस में कल्याण होगा, तो ऐसा असत्य असत्य में नहीं गिना जा सकता। इस में यह निश्चिय भी होना चाहिये, कि इस समय मेरा मिथ्या कहना ही कर्तव्य है; और इस कर्तव्य का अंतिम फल सत्य जाग्रत है। यदि इसी कार्य्य की नीतिमत्ता निश्चित करने से यह निश्चित होता है, कि—'यह देह जिसकी रक्षा स्त्री, संतान, और सम्पत्ति की अपेक्षा अधिक मानीगई है, क्योंकि मनुष्य देह दुर्लभ है इस देह से अन्य देह में मोक्ष साधन नहीं हो सकता ' काया रक्षते धर्माः ' इस नाशवान देह से अधिक शाश्वत पदार्थ की प्राप्ति होती है तो आनन्द से इसप्रचंड अग्नि में प्राणों की आहुति दे देना श्रेयस्कर है। ऐसा अवसर भी प्राप्त होना दुर्लभ है:—

श्लोक—यदृच्छया चोप पन्नं स्वर्ग द्वार मपा वृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभंते युद्ध मीदृशम् ।
(२—३२ गी०)

अर्थः—हे अर्जुन ! यह युद्ध खुला हुआ स्वर्ग का द्वार है, ऐसे युद्ध को भाग्यवान् क्षत्री पाते हैं।

वीर अबला विदुला भी अपने पुत्र से कहती है:—

महूर्त ज्वलितं श्रेयो नचधूमा यितं चिरं (म०भा०उ०१३२-१५)

तू गृह में सुख पूर्वक सौ वर्ष को व्यर्थ आयु को न बिताकर

क्षणमात्र भी परम पुरुषार्थ की ज्योति जगाकर मृतक हो जाय तो अति श्रेष्ठ है „

सत्य है तत्वदर्शी पुरुष अपना पराक्रम दिखाने का मौका पायेबिना अपनी चिर आयु को भार रूप समझते हैं ;और जब मौकापाते हैं , तो अपनी आयु को क्षणमात्र में समाप्त करदेते हैं--ऐसी आयु हज़ारों वर्षसे भी अधिक मानते हैं ; जैसे , कोई हज़ार कोस जाने वाला मुसाफिर (यात्री) अपने अभीष्ट को दस कोस परही पाजाता है , तो फिर हज़ार कोस फटकना नहीं करता है । यह भी ध्यान में रहे , कि मूर्खता से अथवा अविचार से खोयाहुआ स्वयं प्राण , यश का भाजन न होकर पाप भाजन बनता है . अर्थात् आत्महत्या का उल्टा दोष माथे चढ़ता है । सत्यासत्य का यथेष्ट निर्णय करलेना आसान काम नहीं है । अल्पज्ञ मनुष्यों को इस गहन झंझट के आर्णव में गुटका खाने के भय से डुबकी मारने का श्रम नहीं करना चाहिये , अर्थात् ‘ इस असत्य में दोष न होगा ’ ऐसा विचार कर असत्य न कहना चाहिये । उनको सीधा सत्य बोलना अत्यन्त श्रेष्ठ है:—

दोहा—सत्य धर्म के सिंधु की , महिमा अपर पार ।
　　तैर गये तो पार हैं , डूब गये तो पार ॥ (ग्रंथकार)

असत्य में सत्य भावना वही अनुभवी पुरुष करसकते हैं, जिन्हों ने शास्त्रोक्त ; गुरू द्वारा पैंतरे कैसे अनेक हाथ अभ्यास कर सिद्ध कर लिये हैं । स्त्री की नथनो में तीर निकालने वाला मनुष्य धनञ्जय नहीं हो सकता । इस स्थान में बड़े २ धुरीण पंडितों की बुद्धि चकराती है । यह विषय

गणित , न्याय , व्याकरण , और वैद्यक शास्त्र से भी गहन है । इस परीक्षा का उत्तीर्ण (पास शुदा) मनुष्य उसपद को प्राप्त करता है , कि जिसके परे और नहीं है ।

यदि पाठशालाओं में गणित की तरह इस विषय के भी प्रश्न हल कराये जाँय , तो विद्यार्थी सत्य स्वभाव और न्यायशील बन सकते हैं ; किंवा बालरहस्य में इसका प्रस्ताव प्रवेश होने से , समाज में अधिकांश लोग सत्य भाव में ध्यानावस्थित हो सकते हैं । वर्तमान समय सहस्रों मनुष्यों मे शायद कोई एक मनुष्य सत्य स्वभाव का हो तो हो ! नहीं , तो बालक से लेकर वृद्ध पर्य्यंत , और हीन से लेकरसमर्थ तक मिथ्या शील पाये जातेहैं । जब तक अधिकांश समाज सत्य साहित्यसे अकुशल है ; तबतक किसी एक सत्य वक्ता का सत्य आदरणीय नहीं होसकता । अवश्य मेवउसको जैसेको तैसा बनना पड़ेगा । यदि नहीं बनेगा , तो दुष्ट असत्य वादियों के फंदे से बच नहीं सकेगा । ऐसी दशा में किसी मनुष्य का सत्यमय अंतःकरण होने पर भी , वह सत्य वर्ताव नहीं कर सकता ; क्यों किः—

दरोग़ मिस्ल हत कि आमेज़ व अज़रास्ती
फ़ितना अंगेज़

इति गीता सत्ययोग पद्मम् पोड़ समाप्तः ।

सप्तम् पोड़।

कर्माकर्म विवेचन।

युक्ति तोऽपि न बाध्यते दिङ्मूढ़ वदऽपरोक्षा दृते।
(१-१६ सांख्य०)

अर्थः—जब तक कि यथार्थ ज्ञान नहो युक्ति से बंधटल नहीं सकता; जैसे, दिशा भूलने वाले का।

गीवन जाना सरल है; परन्तु योग्य कर्म करना कठिन है। यूं, तो संसार में सब मनुष्य धर्म रत हैं। अपने मुह से कोई अपने को धर्म विरति नहीं कहता; चाहेवह अपनी बेटीपर सवारक्यों न हो! धर्म २ की बातें प्रत्येक से सुन लीजिये, कर्तव्य की ओर ध्यान न दीजिये। मैं पवित्रवंश अथवा आला ख़ानदान का हूं; अमुक हाथ की कच्ची रसोई नहीं खाता हूं, मेरे अमुक सम्बन्धी हैं, नित्य दिवाले जाया करता हूं, इबादत करता हूं, नित्य दो चमची चरणामृत पी आता हूं, उपवास करता हूं, व्रत करता हूं, पाठ करता हूं, पूजन करता हूं, माला जपता हूं, कथा सुनता हूं, छान कर पानी

पीता हूं, रात्रि में भोजन नहीं करता हूं, अर्थात अन्थऊ करता हूं; स्नान करता हूं, बिना स्नान किये भोजन नहीं करता हूं, अमुक वस्तु अपवित्र समझता हूं उसे नहीं खाता हूं, और भी ऐसी २ अनेक चेष्टायें करता हूं। परन्तु यह एक बात कोई नहीं कहैगा, कि मैं "सत्यवादी हूं" मुझे कभी किसी ने झूठ बोलते नहीं देखा होगा। ऐसा कहना तो अधिक श्रेष्ठ और कठिन है: परन्तु कोई इतना भी नहीं कह सकता कि मैंने अमुक तिथि को सत्य ही सत्य बोला था। मनुष्य एक साल में पंद्रह बीस से अधिक उपवास कर लेता है; परन्तु असत्य का उपवास (त्याग) एक दिन भी नहीं करता। जैनी, खटमल और जूं इत्यादि मारना पाप समझते हैं; और तामसी पदार्थ अभक्ष्य मानते हैं; नित्य ज़िन देव के दर्शन करते हैं; शास्त्र और पुराण भी सुनते हैं; परन्तु सदाचरण शब्द के लिये कान पर हाथ रख लेते हैं, अथवा कृपणता से चोटी पर ही उड़ा देते हैं। उनके सागार धर्मामृत में लिखा है:—

श्लो०—चौरप्रयोग, चौराहृत ग्रहाव धिक हीन मान तुलम्। प्रति रूपक व्यवहृतिं विरुद्ध राज्ये ऽप्यति क्रमं जह्यात्॥

अर्थः—अचौर्यानुव्रती श्रावक को चौर प्रयोग, चौराहृत ग्रह, अधिक हीन मान तुला, प्रति रूपक व्यवहृति, और विरुद्ध राज्याति क्रम ये पांच अतिचार छोड़ देना चाहिये।

१ चौर प्रयोग—स्वयं चोरी करना, कराना, चोर की सहायता करना, अथवा चोर का अनुमोदन करना।

२ चौरा हृतग्रह—चोरी का पदार्थ अल्प मूल्य में ले—

३ अधिक हीन मान तुला—कमती बांट से देना बढ़ती बांट से लेना।

४ प्रति रूपक व्यवहृति—किसी बड़े पदार्थ में कोई छोटा पदार्थ मिलाकर बेचना, जैसे, अनाजमें मिट्टी, घृत में तेल इत्यादि।

५ विरुद्ध राज्यति क्रम—राजा के नियम विरुद्ध कोई काम करना; जैसे, स्ववर्ण का भाव, पच्चीस रुपया तोला है, किसी मनुष्य की आर्त दशा में तथा आवश्यकीय अवसर में कोई स्ववर्ण वस्तु न्यून भाव में ले लेना इत्यादि।

जो आचरण कल्याण कारक हैं उनका ग्रहण कोई नहीं करते, और जो आचरण पाप मूलक हैं उनके व्यर्थ सेवन में मरे मिटते हैं— जैसे, स्ववर्णकार सोना, चांदी चुरा कर संतुष्ट होते हैं, दरज़ी कपड़ा चुरा कर संतुष्ट होते हैं, वैश्य लोग तोल अथवा माप में चोरी करते हैं; कहां तक प्रथक २ वर्णन किया जाय; अपने २ व्यापार वृत्ति में जहां तक जिसको मौक़ा मिलता है सब टट्टी की आड़ में शिकार अर्थात् चोरी करते हैं और चोरी करने का मौक़ा पाने के लिये रंग विरंगी झूठ बोलते हैं। सेवा धर्मी (मुलाज़म) नमक मिर्च मिलाकर घूस (रिश्वत) रूपी पाचन की पुड़िया खाये विना खाना हज़म नहीं कर सकते जिसमें हम 'कायस्थ' इस विषय में गणेश की भांति प्रथम पूज्य स्थापितहो रहे हैं— अर्थात् सन्मानार्थ स्पृश्यास्पृश्य के ढकोसले में ऐसे प्रवीन, तथा शास्त्री वनते है, मानो वैकुंठ के शास्त्रियों से शास्त्रार्थ करके, उनको भी पराजय कर चुके हों। हम असली हैं, वह नकली है, हम ऊंच पंक्ति के हैं; वह नीच पंक्ति का है; हम चोखे हैं, वह खोटा है अथवा टांचड़ा है; हमारा कुल श्रेष्ठ है, हमवड़े हैं— चाहे मां की आशनाई भंगी सेहो— उसके यहां कच्चा नहीं खा सकते; यदि खावेंगे हम दूषित हो जांयगे, नीचे

हो जांयगे, और स्वर्ग जाने योग्य न रहेंगे। यह बड़प्पन है? यह स्वर्ग का रास्ता है ? बड़ा आदमी वह है, जो दूसरों के क्लेशों को दूर करे, सत्य बोले, और सबको आत्म समान समझे; परन्तु नहीं, अपना भला सब चाहते हैं, प्रतापी से डरते और मरते को मारते हैं। मैं धनवान हूं, मेवा मिष्टान खाता हूं मख़मली और रेशमी कपड़े पहिनता हूं, स्वर्णमय गुंज और चूड़े पहिने हुये हूं, हाथी और घोड़े, दास और दासीं, इत्यादि वैभव संयुक्त हूं। इतना होने पर भी अमुक पदार्थ चाहता हूं, जिसके लिये भुखमरे ग़रीबों से बेगार में काम लेता हूं अथवा लेने की इच्छा रखता हूं, जिनको भूसा भी खाने को नसीब नहीं होता। ऐसी कामना अधिक मनुष्यों के हृदय में बसी रहती है; यदि कोई तुच्छ अपमानित अभियोग उठ खड़ा होता है, तो लाखों रुपये फूंकने को तैयार हैं; परन्तु गरीब आदमी के लिये एक पैसा उसकी मेहनत का देने को असमर्थ हैं। हाय! हाय!! बड़े शोक का समय है, कि दीन को कम और प्रतापी को सब अधिक तोलते हैं! अज्ञात को ठगना और ज्ञात को पूजना सब की वृत्ति पड़ गई है!! इस चलन ने बाप बेटे का विश्वास छीन लिया है, शास्त्र की आंखों में धूल झोंक दिया है; सम्यक् बुद्धि पर परदा डाल दिया है; सन्मार्ग में खड्डे खोद कर उस को नष्ट भृष्ट कर दिया है, और विवेक आत्मक ज्ञान उठा कर खड्डों में फेंक दिया है। अब ज़रा चक्षु खोल कर, देखिये! जब कि, हम अपना मांस आप ही नोच २ कर खाने लगे हैं! क्या हम स्तेय वृत्ति का भोजन हज़म कर, अछूत जाति का स्पर्सित जल न पी कर स्वर्ग में पहुंच जांयगे, अथवा कुत्सित द्रव्य से सत्य नारायण की कथा सुन कर या ब्रह्म भोज गङ्गा भोज इत्यादि तीर्थ और व्रत कर संसार से अवतरण हो जांयगे? महाराज़ा

हरिश्चन्द्र ने श्वपच की भी सेवा सत्यता से की है; और विश्वामित्र ने अभक्ष भोजन-श्वान मांस-चांडाल के यहां आत्म रक्षा के लिये चुराया है । वह कोई श्वपच नहीं हो गये और न वैकुंठ का रास्ता भूल गये । सत्य से अनेक अश्वमेध का फल समता नहीं कर सकता । सत्कर्म परस्पर कितनी मित्रता उपजाता है, और असत्कर्म क्या हानि करता है, इसका अनुभव सत्य दर्शी ही कर सकते हैं । अनुचित कमाई करना और लोगों को अहंवू सुवाने के लिये व्यर्थ व्यय (फ़िजूल ख़र्ची) करना, किस मंत्र का अर्थ है ? चौर कर्म करना और दादरे के वुलावा में सेर २ वतासे बांटना अच्छा है, कि चोरी न करना, न वुलावा में वतासा बांटना अच्छा है ? उच्च वर्ण को वहुत से अपने काम अपने हाथों स्वयं करना लज्जा मालूम होती है, यहां तक कि दो सेर की पोटली लेने को कोई ख़िदमतगार, कुली या वेगारी होना चाहिये । श्रम करने से शरीर पुष्ट होता है. अश्रम से सुकुमार (नाज़ुक) और अवल होता है । एतदर्थ वड़े परिश्रम का काम भी स्वयं करने का प्रोत्साह करना चाहिये । जिससे काम भी अच्छा हो—अपना काम अपने हाथों इच्छा पूर्वक होता है—तथा शरीर का व्यायाम,और पैसेकी वचतहो । यदि मनुष्य ऐसे वड़प्पन की ओर- जो नितान्त निर्थक है- ध्यान न देकर अपना व्यय कम कर दे, तो उसका निर्वाह (गुज़ारा) उचित उद्योग में कुशल पूर्वक हो सकता है । तुलसीदासजी कहते हैं:-

॥ सवैया ॥

"धूत कहो अवधूत कहो रजपूत कहो जुलहा कहो कोऊ ।
काहूकी वेटीसों वेटा न व्याहव काहूकी जाति विगारन सोऊ ॥
तुलसी सरनाम गुलाम है रामको जाहि रुचै सो कहो कछु ओऊ ।
मांगके खैवो मसीदको सोयवो लेने को एक न देने को दोऊ ॥"

जो मनुष्य विविध क्लेशों को सहन कर वाणी की प्रतारणा नहीं करता,वहीं यशस्वीमहात्मा पुरुषप्रतिष्ठित होताहै, न कि हमारे समान-जो दस रुपया वेतन पाते हैं; हमारी औरतें परदे में रहती हैं; नाई, कहारादि हमारे यहां चौका बरतन का काम करते हैं; और हम असत् कमाई कर, अपने मुंह 'मियां मिट्ठू' बने स्वर्ग को पीछा किये, परमेश्वर से नज़र छिपाये, नर्क की ओर झांकते, काले मुंह पर हाथ लगाये, अपनी कानी सी अकड़ अन्धो को दिखा रहे हैं।

पंडित जन (ब्रह्मलोक रूपी हाई कोर्ट के वकील) भी हम से फ़ीस (दक्षणा) लेकर इस ख़ास (सत्य शास्त्र) क़ानून के असली कामयाबी नुक़्ते (सत्य तत्व) से हमको नावाक़िफ़ (अनभिज्ञ) रखते हैं और खुद पैरवी में कोताही कर हमारी ना कामयाबी का कलंक अपने शिर लगाते हैं; परन्तु नहीं, पं०जी कहते हैं,किः-"तुम खुद ऐसे क़ानून पर अमल नहीं करते हो और इब्तदाई बुन्याद क़ाबिल शिकश्तगी क़ब्ल मेरी वकालत के खुद पेश कर चुके हो, तो मेरी बाद की पैरवी क्या कारगर हो सकती है ?" हम कहते हैं, कि पंडित जी ! आप मुतदय्यन और मुतमय्यन वकील (वशिष्ठ) नहीं हैं, बल्कि हमदरद अज़दहा हैं। अगरचे आपने बिनाय मुख़ासमत मामला और हमारे बद एमालात रोशन कर लिये थे, तो ऐसा मामला अपनी पैरवी में क्यों लिया था। अगर लिया था तो साफ़ कह दिया होता, कि तुम अपने अफ़आल मुजरमी से बरी हरगिज़ नहीं हो सकते हो। यह जो फ़ीस तुम देते हो हम इस को क़बूल नहीं करते। जब कि, आप ने फ़ीस क़बूल कर ली है और इत्मीनान कामयाबी का सिर्फ़ 'फ़ीस की आमद' पर दे दिया है, तो अब नाकामयाबी के कलंक से क्योंकर फ़रोगुज़ाश्त

हो सकते हो । जो वकील कामिल और आमिल राह रास्त के हैं; क्या उनको दिली इश्त्याक़ इस अमर का हो सकता है, कि कोई शख्स हत्तुलइमकान मेरे जेर पैरवी अपने इरादे की कामयाबी से मायूस हों। लिहाज़ा जो मामले उनको मुतज़ल-ज़ल क़ाबिल मग़रूक याने ना कामयाब मालूम होते हैं, उनकी पैरवी से यह वईद रहा करते हैं; और महिज़ अपनी नेकनामी के लिहाज़ में तमअ् की ख़ातिर तवज्जह से दस्तबरदार रहते हैं।

नान्धाऽदृष्टया चक्षुष्मता मनुप लम्भः (१-१५६ सांख्य०)

अर्थः—अन्धों को न दीखने से सूझतों को अनुपलब्धि नहीं होती।

मान लीजिये, कि हम मूर्ख-अन्धे-हैं, हमको नहीं दीखता है; जैसे, इतने बड़े सूर्य का प्रकाश उल्लू को नहीं दीखता, तो क्या हमको न दीखने से आपको भी नहीं दीखता ? आपके तो चार चक्षु, अर्थात दो शास्त्र के और दो आपके कहे जाते हैं। देखिये, कणादि मुनि का वैशेषिक में उपमेय कथन है:-

एतेन हीन सम विशिष्ट धार्मिकेभ्यः परस्वादानं व्याख्यातम (१२) तथा विरुद्धानां त्यागः (१३) हीने परे त्यागः (१४) (अं० ८ आ० १ वैशे०)

अर्थः—छोटे, बड़े और मामूली पुरुष जो धार्मिक हों उन का परस्वादान ग्रहण करने योग्य है, यह व्याख्यात ही जानना चाहिये और धर्म विरोधियों तथा धर्महीन पुरुषों का दान न लेना चाहिये, चाहे वह बड़े धनी क्यों न हों।

जब आप हमारा दान ग्रहण कर लेते हो, तो हम अपने कर्तव्यों को अपवित्र नहीं समझते,-जैसे, कोई मुलाज़िम फ़र्ज मंसबी में ग़फ़लत या हुक्म अदूली करता है, तो मुहत्तमिम आला उसको तदारुक या हिदायत करता है, जिससे वह सही २ अमल और तामील करने लगता है--यदि हमारा धर्म रहित आचरण (हिंसा, असत्य, चोरी इत्यादि) देख कर आप हमारा दान ग्रहण न करें, तो हम स्वयं लज्जित हो कर दुष्कर्मों का त्याग करने में प्रवृत्ति हो जावेंगे। यदि ऐसा होने पर भी हम अपनी वृत्ति को दूषित रक्खेंगे तो दुराचारी प्रख्यात हो कर वर्ण पतित हो जायंगे। कोई हमारी सुपारी तक ग्रहण नहीं करेगा; फिर हो नहीं सकता कि हम अपनी वृत्ति का सुधार न करें और आपको हमारे सुधार का फल प्राप्त न हो। इसी का नाम पांडित्य है। कुछ इसका नाम पांडित्य नहीं है, कि हम चार पैसा चोरी करके ले आये दो आपके भेंट कर दिये दो हम ने खा लिये। कहिये, आपकी पंडिताई कहां रही आपतो हमारे साथी तस्कर हो गये। यदि आप कहें, कि हम क्या जाने तुम चोरीकर लायेअथवा साहूकारी ? यहकहना आपका अर्थ लोलुप बनावटी है। जबकि हमारा आपका अनिशम् सहवासहै,तो क्या आप हमारे आचरण से अनज्ञ हो सकते हैं? यह जाने दीजिये ! आप अपने अन्तःकरण ही से पूछिये, जिसके लिये आपका अन्तःकरण 'शुद्ध' शाक्षी देवही शुद्ध है—चाहे फिर वह अशुद्ध क्यों न हो—और जिसके लिये अन्तःकरण साक्षी न दे वही दुराचारी समझना चाहिये। हमारा मर्म प्राप्त निमित्त आपको प्रयत्नभी करना चाहिये। आप हमारे शिक्षक और अघमर्षक हैं। यही आपकी वृत्ति है। यदि आप में यह गुण नहीं है, तो कानी आंखके होने से क्या लाभ है? कुछ यजमानों के यहां आप खंती

छोड़ने नहीं जाते और न वह आपको अन्य कामों की मज़दूरी देते लेकिन काम की आप मज़दूरी (दक्षिणा) लेते हैं वह आपको उचित परिणाम में फलतः कल्याण कारक है, नकि :— जजमान राखी बंधा लेव......आशिरवाद (राखी बांधते समय) श्लो०—

"मान्धाता बली बंद्रो रगाघल्या नगा गुना ।
चित फद्दो ॐ ॐ ॐ मचले मचले मचले ॥"

(एक पैसा लिया चल दिये)

—भोले भाले मनुष्यों को अल्प-स्वल्प और अनिष्ट ग्रह बतला कर उनका ग्रह पूजा के बहाने से धन ठगना इत्यादि; परन्तु आप यथार्थ शिक्षा न करके उलटा सत्याग्रह करते हैं और हमारे कुटिल कृत्य में भागी होकर मानो हमको उत्साह दिलाते देते हैं। कदाचित हम किसी के यहां डाका देकर, आपसे सत्य नारायण भागवत सुनकर, आपको खूब माल खिला कर, खूब द्रव्य चढ़ावें तो आप हमारी खूब प्रशंसा कर कहोगे, कि अमुक मनुष्य बड़ा धार्मिक है। और यदि हम सच्चे धार्मिक होकर किसी धार्मिक शूद्र के यहां भोजन कर लें, तो हमारे हाथ का आप पानी भी ग्रहण न करेंगे; क्योंकि ऐसे पानी से पेट की आंतों में से धर्म गल कर निकल जायगा; फिर स्वर्ग पाने के योग्य न रहेंगे । परन्तु रामचन्द्र जी ने तो नीच शबरी के चाखे हुये बेर ग्रहण कर लिये थे, यह क्यों? एक गमारी कहावत प्रसिद्ध है "पढ़े बहुत रहे फेल में, हवन गये दूर, बैठ गये गैल में" परन्तु इसका मतलब बड़ा अनोखा है, अर्थात 'वेद शास्त्र बहुत पढ़े पर तत्व न समझे, झूठ बोलते ही रहे।' तत्व भी समझ में नहीं आ सकता, जब तक हृदय से दुर्वासना दूर न हो जैसे, जहां उग्र गन्धा महिक गूंज रही हो वहां पुष्प गन्ध क्या

मालूम हो सकती है। इधर पंडित जी ब्रह्मचर्य्य का व्याख्यान रोचक शब्दों में निरूपण कर रहे हैं, इधर सुन्दर स्त्रियों से कटाक्ष भी हो रहे हैं।

वाल-विवाह, वृद्ध-विवाह और विधवा-ब्रह्मचर्य्य से जो अनेक हानियाँ और पाप होते है उनके विकाश और संकोच कर्ता आपही होते हैं; क्योंकि इसका शोधन, वोधन आपही के द्वारा होकर, आपकी सदनुमति इसमें संस्तृत होती है. इस प्रथा का अनुरोध आपके हाथ में हो सकता है। ध्यान दीजिये ! कि वर कन्या के ग्रहों का मिलान इस तात्पर्य्य से किया जाता है, कि वह कन्या का जीवन सुसंस्कृत और सुखमय व्यतीत हो, नकि व्याघ्र को भेड़ और भेड़ा को व्याघ्रणी की उपलब्धि हो। वर कन्या के दृष्टिगोचर-वर्तमान गुणों के पश्चात् अगोचर, तथा भावी गुणों का मिलान ज्योतिष द्वारा किया जाता है। जबकि दृष्टिगोचर गुणों का मिलान नहीं होता है, तो आगोचर गुणों का मिलान व्यर्थ है। भावी गुणों का मिलान कम और प्रत्यक्ष गुणों का मिलान अधिक होना चाहिये। यह कर्तव्य माता पिता का है ही; परन्तु पंडितों का भी सच्चा मिलान यही है, जिसका कुछ ध्यान ही नही है, अर्थात् जिसके अवस्था इत्यादि प्रत्यक्ष गुण नहीं मिलते हों उसके ग्रह मिलाना उपयोगी नहीं है। प्राचीन समय भी प्रत्यक्ष गुणों का देखना पाया जाता है.। यहां तक कि कन्या को स्वयं वर लेने का अधिकार था। वाल और वृद्ध विवाह का प्रचार न था, ग्रह मिलान का आचार न था। हम आर्य्यों की भांति ग्रह मिलान का खंडन नहीं करते और न ज्योतिषाचार्य्यों के ग्रन्थों को मिथ्या करते हैं; क्योंकि इतनी वुद्धि हममें नहीं है; परन्तु इतना संशय रहित कर सकते हैं, कि उन ज्योतिषाचार्य्यों की भी

सम्मति बाल-विवाह और वृद्ध-विवाह के लिये न होगी। अतः वर कन्या का सम्बन्ध यदि ग्रह मिलान पर किया जाता है, तो मिलान सम्वत सर से प्रारम्भ करना चाहिये जो प्रथम ही ग्रह कुंडली में लिखा जाता है। जिसका आयु गुण न मिले उसका कोई गुण मिला नहीं जानना चाहिये और न फिर कोई गुण उसका मिलाना चाहिये। यूरोप में १५ वर्ष के पहिले किसी का भी विवाह नहीं होता है। यहां भी १५ वर्ष के पहिले और ४० वर्ष के उपरान्त विवाह न होना विद्वान सम्मति हो तो परम पुनीति है। भला जिन वृद्ध पुरुषों को शास्त्र वानप्रस्थ आश्रम की आज्ञा देता है, उनको विवाह शास्त्र क्यों अपना सकता है। जिसको बुढ़ापे में भी कामोद्दीपना अधिक हो उसको समान आयु वाली विधवा से पुनर्विवाह कर लेना चाहिये। अबोध बालिका का जन्म व्यर्थ नष्ट न करना चाहिये। उच्च वर्ण कन्या और नीच वर्ण वर-इसका तो आप मिलान नहीं करते; परन्तु रदन हीन बावा और दूधमुंही कन्या इसका मिलान कैसे कर देते हो, जो अभूतपूर्व और निरयप्रद है।

श्लो०—पलितेष्वपि दृष्टेषु पुंसः का नाम कामिता।
भैषज्यमिव मन्यन्ते यदन्य मनसः स्त्रियः।
(हि० मि० १११)

अर्थः-बाल सफेद होने पर पुरुष के कामत्व नहीं रहता है, ऐसे पति को औरों से मन लगाने वाली स्त्रियां दवा के तुल्य मानती हैं।

श्लो०—नोप भोक्तुं नचत्यक्तुं शक्नोति मिष्याञ्जरी।
अस्थि निर्दशनः श्वेव जिह्वया लेढि केवलम्।
(हि० मि० ११३)

अर्थः-वृद्ध विषयों को भोग नहीं सकता है, और न त्याग सकता है इस कारण उस में ऐसे आसक्त रहता है; जैसे दंत हीन कुत्ता हड्डी को केवल जीभ से चाटता है—"

—ऐसे पति पत्नी का संयोग मिला देना विद्वता है ? जैसे, न्यायालय में अनजान और उन्मत्त की बातों पर ध्यान नहीं दिया जाता, वैसे ही पंडितों को बाल विवाह और वृद्ध विवाह का किञ्चित शोधन नहीं करना चाहिये। उन मनुष्यों के विषय में कहना ही क्या है! जो अपनी समानाल्ला पुत्री को पैसे के लोभ में सुख दुःख की चिन्ता नहीं करते और धर्म को नहीं देखते; यदि वह नहीं देखते, तो पंडितों को अवश्य देखना चाहियेः क्योंकि कान्तार में स्वयं न चलना और न अन्यों को चरण रखने देना आपका परम धर्म है; जैसे, बालक की रक्षा माता पिता करते हैं। जाति विशेष, अथवा पढ़े हुये भी पंडित नहीं हैं; और न 'तिरपनताम् २........' अथवा 'स्वाहा २......' कह देना पंडिताई है। पंडित होना बड़ा कठिन है; यथा, गीतायामः—

श्लो०—"यस्यसर्वे समारम्भाः काम संकल्प वर्जिताः।
ज्ञानाग्नि दग्धकर्माणं तमाहुः पंडितं बुधाः।"

अर्थ–जिसका सर्व कर्मों का आरम्भ कामना और संकल्प रहित है और जिसने ज्ञानाग्नि द्वारा कर्मों को दग्ध किया है उसको बुद्धिमान् लोग 'पंडित' कहते हैं।"

कहीं २ "ऊ, ना, मा, सी," पढ़े हुये भी पंडित जी व्यासासनी आसीन पाये जाते हैं, जो श्रोताओं की आंखों में

पट्टी बांध कर पीछे कुआं की ओर फिसलने का उपदेश देते हैं। हमको किसी से स्पर्द्धा नहीं हैं: हम कृतसखत्व पाने के लिये दलीला दे रहे हैं; हम किसी की निन्दा नहीं करते है: और न किसी के कुटुम्ब पालन माग में भांखर लगाते हैं, परन्तु इतना अवश्य कहते हैं कि अड़वड़ङ्गा उपदेश बड़ा हानिकारक होता है। जिस काम में जो न जानता हो उसमें सिद्ध बनने का लालच न करना चाहिये। असत्य कर्म से सर्वथा भय करना चाहिये। यह हमारा आप से वितण्डा वाद नहीं है: आप अमर्ष ग्रहण न करें: हमने आप की नहीं, किन्तु अपनी तर्कना की है, जिसमें आपके भृश प्रभुत्व की ध्वनि निर्णीत है।

॥ इति गीता सत्ययोग सप्तम् पोड़ समाप्तः ॥
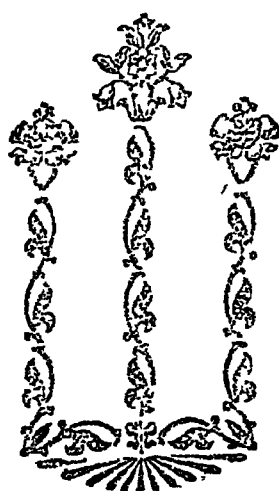
अष्टम् पौंड़ ।

प्रगाढ़ व्यय निरीक्षण

गुण योगाद्बद्धः शुकवत् (४—२६ सांख्य०)

अर्थः—मनुष्य स्वतः अपने गुणों के योग से बन्धन में पड़ता है, तोता के समान ।

यक का ध्यान डिग जाता है; स्वकीय सम्बन्धियों का स्नेह चिग जाता है; साधन का अनुप्रास होता है; श्री का ह्रास होता है; तर्कसभा प्रहसन होता है; और बुद्धि का विडम्बन होता है, जबकि व्यय का विकाश आय से अधिक होता है। आय और व्यय समान होता है, तब भी विसनस् बना रहता है। एतदर्थ आय और व्यय का इस प्रकार प्रबन्ध करना चाहिये। कि आय से व्यय अधिक न हो; और मिथ्याचार का लेश न हो ; परन्तु ऐसा होना बृहत् आय के मनुष्यों से सुगम और ह्रिस्व आय के मनुष्यों से दुर्गम है। कोई कोई श्रेष्ठ आय वाले मनुष्य भी घृणित द्रव्य में आशक्त रहते हैं-यह कारण उनके हृदय की फूट जाने का है। इससे अधिक और क्या कह सकते हैं! अल्प

आय के मनुष्य जो आर्त विवश नीच कर्तव्य में प्रवृत्त हो जाते हैं, उनको अपना व्यय लघु रूप में वर्तना अभिमत होना चाहिये। ह्रस्व व्यय के लिये किसका पुरस्कार और किसका वहिष्कार किया जावे, इसका अनुभव देश हितैषी नेताओं के उपदेश से ग्रहण करना चाहिये। दीन जनों को निर्दोष उद्योगों द्वारा अपने आय का तारतम्य बृहत्व भी करना चाहिये। यही न हो तो अन्य वृत्ति का वर्त्म टटोलना चाहिये, जिसमें निर्वाह सुगम प्रतीत हो। यदि प्रारब्धतः प्रयत्न से भी भावी का भोर न हो, तो अधैर्य्य हो कर दूषित आचरण का सहारा न लेना चाहिये; क्योंकि सत्य समृद्धि उत्पादक है—सत्यवान् का किसी न किसी समय अवश्य उत्थान होता है। वेटा धोखा देता है; परन्तु सत्य से धोखा नहीं हो सकता है। जिन आर्त पुरुषों को सत्य में धारणा है, उन भृशोत्कृष्ट भृशोत्साहियों को धन्य है!

परन्तु आपत्ति भी बुरी बला है, इसमें साहस के छक्के छूट जाते हैं; धैर्य्य के पर टूट जाते हैं; ज्ञान के चक्षु फूट जाते हैं; और अवश्य मेव अनेकों संकल्प असत्य के नज़र आते हैं। और फ़िर 'मरता क्या न करता' की कहावत हो कर मनुष्य बड़े २ उपद्रव कर बैठते हैं। जिससे जनता में बड़ी खलबली मच जाती है। जिसकी शान्ति अधिकार में आना कठिन हो जाती है। इससे सत्सदस्यों को समयानुसार मनुष्य के आय व्यय की ओर ध्यान देना चाहिये; और उन रीतियों का निवारण करना चाहिये, जिनमें श्रद्धा (हैसियत) से अधिक और व्यर्थ व्यय का चलन है। जो कि समृद्ध हैं, आसानी से शिक्षा दे सकते हैं, तथा द्रव्योपार्जन भी करा सकते हैं उन लोगों को जो कि दीनता में हैं, और अपने कर्तव्य से वेसुध हैं। जो लोग कि समृद्ध हैं और दीनों पर सदय नहीं हैं, उनकी समृद्धता बकरी के गल स्तनों के तुल्य निरर्थक है।

संसार में मनुष्य स्वभाव से तीन प्रकार के होते हैं। उत्तम, मध्यम, और निकृष्ट; और धनमें भी तीन प्रकार के होते हैं बृहत्, सामान्य, और लघु। उत्तम पुरुष वह हैं जो दूसरों का हित करते हैं; मध्यम पुरुष वह हैं जो दूसरों का हित नहीं करते, तो अनहित भी नहीं करते; और निकृष्ट पुरुष वह हैं जो दूसरों का हित न करके अनहित करते हैं। जो पुरुष उत्तमप्रकृति और धनी हैं तथा जिनका परहित सर्वस्व अर्पण है, वह बिना आराधना के ही अन्यहित में तत्पर रहते हैं; जैसे, मेघ बिना मांगे ही वृष्टि करते हैं। उपरोक्त दोनों प्रकार के मनुष्य मिल कर ३×३=९ प्रकार के होते हैं-इनमें ६ पुरुष धार्मिक और ३ अधम समझना चाहिये। अधम पुरुषों का ताड़न और धार्मिकों का संरक्षण उत्तम और श्रीमान् पुरुषों का धर्म है—यही पुरुष यहां सत्सदस्य और सदस्य है, अर्थात् ६ पुरुष जो धार्मिक हैं, उनमें ३ उत्तम सत्सदस्य और ३ मध्यम सदस्य समझना चाहिये। इनमें समर्थ असमर्थ दो भेद और हो सकते हैं; जैसे जो उत्तम हैं परन्तु निर्धन हैं, वह असमर्थ हैं और जो उत्तम हैं धनवान् भी हैं, वह समर्थ हैं जो चाहे कर सकते हैं। प्रत्येक देश की स्थिति इन्हीं उभय सदस्यों से हुआ करती है। जब यह सत् सदस्य सो जाते हैं अथवा अपनी शक्ति को भुला देते हैं उस समय अधर्मों की खूब बन बैठती है; और यही अधम धर्म को अधर्म और अधर्म को धर्म बना देते हैं। फिर धार्मिकों में भी शनैःशनैः यहीख्याति मन्तव्य होकर धर्म की वास्तविकता मटिया मेट हो जाती है; और मनुष्य कुछ का कुछ समझने लगते हैं; जैसे, चौका लगाना रसोई गृह की नित्य की सफ़ाई थी, परन्तु अब वही चौका हिन्दुओं का परम धर्म हो गया, यहां तक कि विदेश यात्रा भी कोई कोई महाशय केवल इसी कारण नहीं

करते। पानी छान कर पीना 'पानी साफ़ कर लेना है'; परन्तु अब जैनी मिट्टी के गोंदे भी छने हुये पानी से बनाते हैं। बिना छाना पानी छू लेना उनको अधर्म जान पड़ता है।

हमारे ऋषियों ने जितने पर्व, उत्सव, नेम, व्रत, यज्ञ, स्तुति, और वंदन इत्यादि कल्पित अथवा ऐतहासिक नियत किये हैं, वह सब स्वास्थ रक्षक, तथा कल्याण कारक परमोपयोगी गम्भीर आशय से भरे हुये सार्थक हैं। उन्होंने आतमा को मूल तत्व समझ कर 'आत्म बल' की ओर विशेष ध्यान दिया है; और अहर्निश इसी का खोज किया है। अब उन गम्भीर आशयों के अलङ्कार रूपी व्यूहों को तोड़ कर असली मतलब समझ लेना हम क्षुद्र बुद्धियों को अगम्य है। उन्हों ने गागर में सागर को बन्द कर दिया है; और अनेक हाथियों के झुंड को छोटी सी पोटली में बांध लिया है। थोड़े समय में बहुत काम करने का यत्न किया है, इसी से अत्यन्त शूक्ष्माकार में ग्रन्थों का निर्माण किया है। यही नहीं, वरन् जितने काम उनके हैं सब "बाला नशीन और कम खर्च हैं"। यह बात थोड़ासा मुक़ाबला प्राचीन और अर्वाचीन दशा का करने से मालूम हो सकती है; जैसेः—

"पहिले संग्रामादि स्थलों में सङ्ख बजाया जाता था अब बिगुल बजाई जाती है। सङ्ख और बिगुल की तुलना क़ीमत और आवाज़ से कीजिये तो सङ्ख का प्राम्य अधिक ज्ञात होता है। हारमोनियम और मोहन बाजा के स्वर एक से मिलते हैं। इन दोनों की क़ीमत की ओर ध्यान दीजिये। ऐसे ही धनुष-बंदूक़, चकमक-माचस, तम्बाकू-सिगरट, कम्बल-छाता, खड़ाऊं जूता घड़ी-घन्टा-धूप घड़ी, और टोपा-टोपी प्रभृति पर भी विचार करना चाहिये। पहिले गुरु-कुल और ऋषि-कुल में विद्यार्थी

शिक्षा पाते थे; अब स्कूलों और कालेजों में पाते हैं। जो अनुभव विद्यार्थियों को प्रथम होता था वह अब नहीं होता। अक्षर ज्ञान ही शिक्षा नहीं है। शिक्षा उसका नाम है कि जिससे चित्त को शान्ति हो अन्याय का अन्धकार दूर हो। जो योग्यता व्याकरण (पाणनी) वेद शास्त्रादि के पढ़ाने से अल्पकाल में होती थी, वह अनेक कितावों के पढ़ाने में दीर्घ समय में भी नहीं होती है। जितनी कितावें मिडिल तक रटाई जाती हैं, उतने सम्पूर्ण आर्ष ग्रन्थ ही नहीं हैं। आर्ष ग्रन्थों में यह भी नहीं है, कि कोई बात शेष रह जाती हो। इन ग्रन्थों की रचना इस प्रकार की गई है; जैसे, फैले हुये कपड़े की तह लगा देते हैं। एक एक सूत्र एक एक थानकी तह समझना चाहिये—एक सूत्र के भाष्य में एक ग्रन्थ तैयार होता है। एक सूत्र के रटने में और एक ग्रन्थ के रटने में कितना समय लगता है, इसका विचार मूर्ख और पण्डित सब ही कर सकते हैं। वर्णमाला देखिये और उसकी पराकाष्ठा की ओर ध्यान दीजिये, तो इतनी प्रवर्हयता और अभ्रामकता पाई जाती है, कि जितनी किसी भाषा की वर्णमाला में नहीं है। इस में जो लिखा जयगा स्पष्ट वही पढ़ा जायगा। जो सफ़ाई अपने आप होती थी, वह दण्ड देने पर भी नहीं हो सकती है। प्रत्येक मनुष्य प्रति दिन अग्नि होत्र करता था, जिससे वायु शुद्धि होती थी। प्राणायाम इत्यादि संध्या वंदन करते थे, जिससे शरीर निरोग रहता था और पापों से बचते थे।

पहिले योग बल द्वारा सूक्ष्म शरीर से विचरण, दूरस्थिति विषयों का श्रवण अथवा दर्शन, पर मन का मनन ज्ञान, क्षुधा तृषा का जय, दीर्घायु और मृत्यु का अनुरोध, और मृतक का पुनर्जीवन इत्यादि अद्भुत विभूतियों का चमत्कार योगियों में हो जाना योगादि शास्त्रों में पाया जाता है। जिसके सामने

तड़ित विज्ञान, कला कौशल्प, और पदार्थ विद्या अर्थात सायन्स (Science) क्या वस्तु है। ?

यदि यह कहा जाय कि वह लोग वर्तमान विद्या को जानते ही नहीं थे, तो यह सिद्ध नहीं होता; क्योंकि गहन योग विज्ञान के ज्ञाता क्षुद्र विषयों अर्थात् पदार्थ विद्या इत्यादिसे अनभिज्ञ नहीं रह सकते। यह अवश्य सिद्ध हो सकता है, कि जैसी उन्नति पदार्थ विद्या अर्थात् सायन्स में यूरोपियन विद्वानों ने की है, वैसी कभी किसी ने नहीं की है। आर्य्य गण अद्भुत शक्ति विशिष्ट युद्ध अस्त्र बनाया करते थे, वह विद्युत शक्ति ही उनमें प्रवृष्ट किया करते थे; जैसे, मेघ बाण, अग्नि बाण, नाग पाश, शक्ति शेल और सम्मोहन अस्त्र इत्यादि। प्राचीन इतिहासों के देखने से पता चलता है, कि आर्य्य विद्वानों ने ज्योतिष विद्या रसायन विद्या, भूतत्व विद्या, चिकित्सा विद्या, पदार्थ विद्या, खनिज पदार्थ विद्या, स्वेदज सम्बन्धीय पदार्थ विद्या, शिल्प विद्या, तड़ित विज्ञान, अध्यात्म ज्ञान, और योग विज्ञान इत्यादि सब ही विद्या पराकाष्ठा को पहुंचाई थीं। यह उन्नति समय महा भारत संग्राम के पूर्व था। महा भारत के पश्चात् 'महाभारत संग्राम में तत्त्व वेत्ता विज्ञानी' डूब जाने के कारण आर्य्य देश की अवनिति विदित होती है। अब न वह विद्वान रहे हैं, न विद्या रही है, इससे उनके अलौकिक शाली कर्तव्य असम्भव कहे जाने लगे हैं। वर्तमान सायन्स भी सैकड़ों वर्षों के पश्चात् 'जब कि इस सायन्स के आविष्कार विद्वान कोई शेष न रह' गपोड़ा पुराण कहा जाने लगेगा। काल की रहस्य मयीगति अकथनीय है। उक्त विशेषण के विषय में कुछ कुछ ज्वलन्त दृष्टान्त अब भी मिल सकते हैं; जैसे:— "इञ्जीनियरिङ्ग (Engineering) अर्थात् शिल्प कर्म के सम्बन्ध में रामेश्वर का सेतुबन्ध, और उड़ीसा के कनारक और भुवनेश्वर पुरी आदि के मंदिर इत्यादि" हिन्दू गण में गंगा जल, तुलसी पत्र,

और गौ की अत्यन्त पवित्र प्रतिष्ठा है। आधुनिक सभ्यता के लोग इन जड़ पदार्थों की सम्मानता पर बड़ी हंसी उड़ाते हैं; परन्तु पूर्व वैज्ञानिक वेत्ताओं की ज़रा ज़रा सी युक्तियां मनुष्य की असीम हितकर हैं। उनका वास्तविक तात्पर्य्य समझ में आने पर विद्वानों की बुद्धि मोहित और चकित हो जाती है। "तुलसी के वृक्ष" में प्रबल वैद्युतिक शक्ति विद्यमान् है। जहां तुलसी के वृक्ष खड़े होते हैं; वहां की वायु शुद्ध रहती है और उसकी सीमा तक मच्छर नहीं जाते। मलेरिया इत्यादि के मच्छर भी उससे दूर रहते हैं। तुलसी की सपत्र शाखा को हाथ में लेकर देखिये, तो शरीर पर मच्छर नहीं आवेंगे। तुलसी की माला धारण करने से शरीर में विद्युत शक्ति व्याप्त रहती है, जिससे अनेक व्याधियां दूर रहती हैं; शरीर में यकायक किसी रोग का आक्रमण नहीं होता और बुद्धि शुद्ध आचरण को ग्रहण करती है। तुलसी एक उत्तम रसायन है। इसके पत्ते प्रति दिन संध्या सवेरे भक्षण करने से शरीर कान्तिवान् होता है। चरणामृत में गंगा जल और तुलसी पत्र इसी कारण दिया जाता है। तुलसी वज्र रोधक दण्ड की अपेक्षा अधिक गुणकारी है। जहां तुलसी का वृक्ष होता है वहां वज्रपात नहीं होता। बहुत से हिन्दू गृहस्थ हल्दी से रंगे वस्त्र में तुलसी की जड़ घर की चौखट में बांध देते हैं। तुलसी के और भी अनेक प्रयोग अनेक रोगों पर वैद्यक शास्त्र में लिखे हुये हैं उनके वर्णन की आवश्यकता नहीं है। तुलसीके समान अन्य वृक्ष उपयोगी नहींहै। "गंगाजल" का भी अतुलनीय प्रभाव है। गंगाजल एक अद्भुत रसायन है। जो इस जल का सेवन करता है, उसकी बुद्धि पवित्र होती है; सहसा रोगों से संरक्षित रहता है; और रोगी का रोग शांत होता है। इस जल में कठिन से कठिन रोग के जीवाणु नष्ट हो जाते हैं। मि० 'मार्क ट्वेन' अमेरिकन रचित "मोर ट्रास्स एब्राड" नामक

पुस्तक के पृष्ठ २४३ व ४४ में गंगाजल की बहुत प्रशंसा की है, जिसका सारांश यह है कि—डा० हैङ्कस ने भली भांति अनुसंधान कर सिद्ध किया है, कि कैसे ही भयंकर रोग के कृमि क्यों न हों, गंगाजल में ६ घन्टे के अन्दर नाश हो जाते हैं, और वही अन्य जल में अधिक बढ़ जाते हैं। हिन्दू गंगाजल की महिमा पुरातन से कर रहे हैं, हम नहीं कह सकते कि यह गुण उनको कैसे विदित हुआ। मि० हैङ्किस (*Dr.* Hankins.) ने भी गंगा और जमुना दोनों के जल में हैज़ा के कीट नष्ट होने का प्रभाव एक किताब में लिखा है। श्रद्धास्पद स्वामी दयानन्द जी ने भी श्री महाभारत धर्म महा मंडल की मुख पत्रिका "निगमागम चन्द्रका" में मि० मार्कप्ट्वेन की उक्त पुस्तक में से अंग्रेज़ी अवतरण उद्धृत करदिया है। "गौ" मनुष्य की एक मात्र जीवनाधार और प्राण वाभ्रिक है। इसकी अपार महिमा जगत्प्रसिद्ध है। माता पिता के समान इसकी हितैषता से कोई उऋण नहीं ह सकते, इस कारण आर्य्य सभ्यता ने इसको परमपूज्य माना है। पंजाब केसरी महाराजा रणजीत सिंह की सभा में योगीवर हरिदास स्वामी को पृथ्वी में जीवित गाड़ दिया गया; और ऊपर की मिट्टी पर वोके पहरे बिठा दिये गये, छः महीना पश्चात् वह निकाले गये, तब भी निर्जीव न हुये। मद्रास के योगी कुम्भक द्वारा आकाश में स्थित रहे; और भूकैलास स्थित योगी कलकते के, समाधि अवस्था में निःश्वास रहे—इन तीनों उदाहरणों को यूरोपवासी विद्वान प्रत्यक्ष दृष्टि से देख कर अत्यन्त मोहित हुये। अपनी पुस्तकों में भी उन्होंने इन प्रत्यक्ष प्रमाणों को लिखा है। डा० पाल (*Dr.* Paul) साहब ने "योग विज्ञान पुस्तक" में अष्टांग योग की महत् प्रशंसा की है और अलौकिक अद्भुत शक्तियों का वर्णन किया है। योगी

दीर्घायु और भूत विजयी प्राणायाम द्वारा कैसे हो सकते हैं? उन्होंने वैज्ञानिक युक्ति द्वारा यह भी पूर्ण रूप से प्रमाणित कर दिखाया है। यूरोपियन विद्वानों ने जैसी उन्नति और विषयों में की है—इस समय सब विषय उन्नति पर हैं—वैसी उन्नति का ध्यान योग—विज्ञान विषय में अवस्थित हो, तो सन्देह नहीं, कि योगका उद्धरण फिर भी आविष्कृत हो; क्योंकि उन विद्वानों का कर्तव्य और साहस परम, प्रशंसनीय है! वह जिस विषय के पीछे पड़ते हैं, उसको पूर्ण सिद्ध करके छोड़ते हैं। यह गुण परमात्मा ने उन्हीं को दिया है! उपवास (लङ्घन) आधिव्याधि-रोधक परममहौषधि है। उपवास से अजीर्ण का नाश होता है। विना अजीर्ण के किसी रोग का संकर्षण नहीं होता। सब रोग का जन्म दाता और भ्राता अजीर्ण ही है। शरीर में छोटी सी फुन्सी भी अपक्वरस के विकार से उत्पन्न होती है। हमारे पूर्वज यद्यपि ववर और जंगली थे; परन्तु उनकी रचना और कल्पना अस्त व्यस्त नहीं थी। वह इस बात को जानते थे, कि मनुष्य सहज में लङ्घन नहीं करगे। अजीर्ण में भी कोई २ भोजन किये विना नहीं मानते—इस कारण उन्होंने प्रति मास गणेश, गयारस और प्रदोष आदि व्रत कल्पित कर दिये हैं जिनमें लोग उपवास करने को स्वयं उत्सुक होते हैं; और एक महीना में दो एकउपवास सहर्ष कर लेते हैं, जिससे वह संचित अजीर्ण से मुक्त हो जाते हैं और इष्ट देव के अर्चन का भी फल पाते हैं—मनुष्य का जितना समय शुभ कर्म में व्यतीत हो अथवा जितने समय अशुभ कर्म करने से तथा अशुभ कर्म करने के चिन्तन से रहित रहें, उतने समय का और कुछ न हो तो दुष्ट फल कदापि प्राप्त न होगा—इसी प्रकार दिवाली संक्रात, और होली इत्यादि उत्सवों में ऋतु के दोषोत्वण शमनक उपचार और ऋतु में

आवश्यक कर्तव्य पाये जाते हैं। जिस ऋतु में जिन पदार्थों और क्रिया कर्मों का सेवन और निषेध वैद्यक शास्त्र में मिलता है; तदानुकूल उक उत्सवों में भी श्रेष्ठता से देखा जाता है; इससे निश्चय होता है कि महर्षियों ने ऋतु चर्य्या के सिद्धान्त को पर्वों के ढांचे में ढाल दिया है। इस ढङ्ग से अज्ञात मनुष्य भी ऋतु चर्य्या के लाभ को पा सकता है। कहीं २ किसी पर्व में ऋतु से कुछ प्रतिकूलता भी है, वह सम्भ्रम कर है। सनातन देव सभा का असमंज गण बाल कुतूहल जैसा प्रहसन और असूक्षण करते हैं; क्योंकि हिन्दू ग्रन्थों में देवताओं के स्वरूप का अलौकिक वर्णन है; जैसे, लम्बोदर-गजमुख अब्जयोनि-चतुर्मुख, पद्मनाभ शेषशायी, और अम्बक-व्यालधर गंगाधर इत्यादि—इस प्रकार की असम्भव कथाओं के गूढ़ रहस्य को यथेष्ट जान लेना उत्कृष्ट साधन है। इनका निर्माण कर्ता कोई अयोगी अथवा साधारण मनुष्य नहीं है। कलावंत के उत्कृष्ट गान को न समझ कर उसे व्यथ बकी कह देना हमारी विस्मृति है "आज रात्रि में सरस्वती ने मुझ से कहा कि तुम एक ऐसे ग्रंथ की रचना करो" "आज रात्रि को मैंने शोचा कि एक ऐसे ग्रंथ को निर्माण करूं" इन उभय वाक्यों में अर्थ असादृश्यता न होकर प्रथम वाक्य द्वतीय वाक्य की अपेक्षा विद्वमत्ता विभूषित है; परन्तु स्थूल बुद्धि की दृष्टि के लिये असम्भव है। विज्ञानी पुरुषों ने उत्कृष्ट पदार्थों को देव और निकृष्ट को अदेव माना है; और उनके विशेष सिद्धान्त को आलंकारिक चक्र से स्वरूप सृजन किया है। जैसे, बुद्धि ढेर को गणेश, सुन्दर वाणी को सरस्वतो, सत्वगुणी सृष्टि पालक सत्ता को विष्णु, रजोगुणी सृष्टि कारक सत्ता को ब्रह्मा, और तमोगुणी संहारक सत्ता को रुद्र प्रभृति सङ्कलन किया है। ज्ञानेश्वरी महाराज ने कहा है "हे ओंकार हे आदि

रूप, जिनका वेदों ने वर्णन किया है, आपको नमस्कार है। स्वयं आपही जिनको जानने हारे हैं आत्म रूप ! आपका जय २ कार हो। (१) मैं, निवृत्ति का दास कहता हूं हे देव सुनिये, आप ही सकल अर्थ और बुद्धि के प्रकाशने हारे गणेश हैं। (२) ये जो अखिल वेद हैं सोई आपकी सुन्दर मूर्ति हैं। और वेद अक्षर यही आपका निर्दोष शरीर सुहाता है। (३) स्मृति आपके अवयव हैं। शरीर के भाव देखे जांय तो अर्थ की सुन्दरता यही आपके लावण्य की ढव है। (४) अठारह पुराण आपके मणि भूषण हैं, प्रमेय रत्न हैं और पद रचना उनका कुंदन है। (५) उत्तम पद लालित्य आपका रंगा हुआ वस्त्र है, जिसमें साहित्य शास्त्र यही उज्वल और वारीक ताना वाना है। (६) देखिये, काव्य और नाटक, जो देखते सानंद आश्चर्य होता है रुमझुम करने वाली क्षुद्र घन्टियां हैं और काव्य नाटकों का अर्थ यही अर्थ उनकी ध्वनि है। (७) अनेक प्रकार के तत्वार्थ और उनकी कुशलता अच्छी तरह देखी जांय, तो उन तत्वार्थों के उत्तम पद यही उन काव्यादि घंटियों के बीच लटकने वाले रत्न मालूम होते हैं। (८) व्यासादि ऋषियों की बुद्धि यही मेखला सुहाती है और उसका तेज यही उस मेखला के पल्लव का अग्र भाग चमकता है। (९) देखिये जो षड् दर्शन कहलाते हैं सोई आपकी भुजायें हैं; और भिन्न मत यही आपके शस्त्र हैं (१०) तर्क शास्त्र फरसा है, न्याय शास्त्र अंकुश है, और वेदान्त सुरस मोदक शोभता है। (११) एक हाथ में जो आप ही आप टूटा हुआ दन्त है सो कार्तिककारों के व्याख्यान से खंडित किये हुये बौद्ध मत का संकेत है। (१२) फिर जो वरदायक कर कमल है सो सहज ही सत्कार वाद का सूचक हुआ और धर्म की प्रतिष्ठा सो आपका अभय कर हुआ। (१३) देखिये जहां महा सुख का

परमानंद है सो अत्यन्त निर्मल विवेक आपकी लम्बी सूंड है। (१४) उत्तम सम्वाद आपके सम और शुभ्र वर्ण दन्त हैं, और हे देव! हे विघ्नराज! ज्ञान दृष्टि आपके शूक्ष्म नेत्र हैं। (१५) दोनों मीमांसायें दोनों कानो के स्थान में दिखाई देती हैं; ज्ञानामृत मद है और ज्ञानवान मुनि उसका सेवन करने वाले भ्रमर जान पड़ते हैं। (१६) तत्वार्थ प्रकाशमान प्रवाल हैं, द्वैत और अद्वैत निकुंभ है, और दोनों का जहां एकी करण होता है सोई मस्तक शोभता है। (१७) वेद और उपनिषद जो उत्तम ज्ञानामृत से युक्त हैं सो आपके मस्तक पर रक्खे हुये मुकुट में पुष्पों के समान शोभा देते हैं। (१८) अकार आपके दोनों चरण हैं, उकार विशाल उदर हैं; और मकार मस्तकाकार महामंडल है। (१९) यह तीनों जहां एक होते हैं वहां वेद समाविष्ट हैं। उसी आदि बीज ओंकार को मैं श्री गुरू की कृपा से नमस्कार करता हूं (२०)" एवं विष्णु इत्यादि देवताओं के भी स्वरूप को जानना चाहिये। यह संकल्प केवल वाग्विलास नहीं है—ज्ञान प्राप्ति का आधार; अभय पद का दातार; ज्ञानियों का सम्वाद; योगियों का अनुभव; अयोगियों का आस्तिकत्व; अधर्म को भयकारी भूत; और धर्मज्ञ को परम न्यायकारी पूत प्रतीत होता है अथवा जैसे को तैसा भासता है। यह सर्व व्यापी आत्मा का चमत्कार है। योग वाशिष्ट में कहा है, कि— "स्थावर, जङ्गम, स्थूल और शूक्ष्म जो कुछ जगत भासता है वह सब संकल्प मात्र हैं। एक ही समय अनेक मनुष्य ध्यान लगा कर भगवान से वरदान मांग लें कि हम ब्रह्मा अथवा सूर्य्य हो जांय, तो वह सब एक ही समय ब्रह्मा हो सकते हैं।" संस्कृत साहित्य में ग्रंथ रचना की प्रणाली आलंकारिक, औपन्यासिक, औदाहरणिक, और दृष्टिकूटक अलौकिक दृष्टांत संलंकृत पाई जाती है, जिन

का उद्देश्य परम लोकोपकारी है। उनकी असम्भवता पर ध्यान न देकर उपदेश मात्र का ग्रहण करना चाहिये; जैसे, सांख्य में कहा है "वहु शास्त्र गुरु पासनेऽपि सारा दानं षट् पदवत्=बहुत से शास्त्र औरगुरुओं की उपासनामें भौंराके समान सार मात्रका ग्रहण करे (४-१३)" देखिये "हितोपदेश" पशु पक्षियोंकी रौपक गाथा विशिष्ट कपोल कल्पित ग्रन्थ है; परन्तु मनुष्य के अत्यन्त हितकारक सिद्धान्त से भरा हुआ है, क्या यह असम्भवता के कारण हितोपदेशक नहीं ? प्राचीन ग्रन्थों में क्षेपक कथाओं का भी अधिक समावेश है, जो अवश्य ग्रन्थकार के उद्देश के ध्वंसक होकर कुछ हानिकारक और उपकारक भी हो सकते हैं। कुटिल पंथों का क्षेपक हानिकारक और साधु पंथों का उपकारक कहा जा सकता है।"

प्राचीन सभ्यता की स्नेह ध्वनि में हम वहुत दूर निकल गये; और इस प्रकरण का शीर्षक सम्बन्धनीय कथन पीछे रह गया। पीछे तो रह गया, परन्तु प्राचीन सभ्यता के रहस्य से आधुनिक सभ्यता का प्रगाढ़ व्यय परिणाम पाठकों को सुनाने के लिये प्राचीन सभ्यता का साथ किया गया; क्योंकि किसी पदार्थ का ग्रहण दोष समझ में न आने तक उसका ग्रहण त्याग नहीं हो सकता। पूर्वाचार्यों की पुरातन पद्धति जिसका प्रचार हिन्दू समाज में अव तक चला आता है, निर्दोष और परम कल्याण कारक है; परन्तु अज्ञानता के कारण उसका यथोचित सन्मान ज्ञात नहीं रहा, जिससे वास्तविक तात्पर्य्य अस्त व्यस्त होकर; वरदायक साधन का श्राप दायक साधन हो गया; जैसे कुटिल कमाई के पैसे से जगदीश स्वामी के दर्शन कर उत्तम फल की आकांक्षा किस मंत्र का सिद्धान्त है ? कहां तो हमारे ऋषि मत का यह अनुभव कि— "जो परम विवेकी

मनुष्य हैं, वह परम स्वतंत्र हैं; जो तृष्णा को जयकरलेता है लक्ष्मी उसकी दासी हो जाती है; जिसकी अहिंसा में प्रतिष्ठा है, वह सहस्र फण वाले सर्प की शय्या पर निर्भय शयन कर सकता है; अर्थात् सहस्र फणि भी उसका हितैषी है—सर्प का स्वाभाविक गुण है कि ज़रा दबने पर मुंह मार देता है—जिसकी विषय भोगों में स्पृहा नहीं है, उसके चारों ओर सर्व सुख का क्षीर समुद्र भराहुआ रहताहै इत्यादि" और कहां इन्हीकी यह दिल्लगी कि—"किसी की गर्दन दबाकर दो रुपया ले लेना; फिर एक रुपया उसी में से पाप अंकित न होने के लिये सत्य नारायण आदि को देना।" पांडव क्या कौरवों को नहीं गिरा सकते थे? परन्तु उन्हों ने सत्य रक्षार्थ जुवा में हारी हुई निज पत्नी द्रौपदी की भी सहायता त्याग दी; यदि वह बदल जाते तो कौरव उनका क्याकर सकतेथे? और वेक्यों इतनी आपत्ति झेलतेफिरते? वैसे ही महाराजा हरिश्चन्द्र ने अपना राज घर बिगाड़ दिया स्त्री-पुत्रको त्यागदिया; परन्तु सत्यको न त्यागा। अब इस समय देखिये; किमनुष्य सुत दारादि का परित्याग कर दें; आप कारा-ग्रह में वास करने लगे परन्तु असत्य का त्याग न करें और धर्मपद परभीडटेरहें। अछूतजातिसेदूररहना, सन्ध्या सवेरेमालाफिराना, पाठ पूजा करना, देवालय में कथा वार्ता सुनना, और जहां तक काबू हो सत्य न बोलना यही धर्म है। गप शप मिलाना वीरता और ठग लेना रणधीरता है। अपना शरीर सुख में रहना स्वर्ग और सुत दारादि सहित चैन उड़ाना अपवर्ग है। विवाहादि उत्सवों में नामार्थ धन उड़ाने के लिये कुवेर और भिक्षुक को एक पाई देने के लिये निःस्वन हैं। कुत्सित धन कमाने को मूर्ख और खोटे चोखे जाति निर्णय करने को परम विवेकी हैं। सत्य जो सूर्य्य के समान हितकर है और धर्म का प्राण संजोवन है,

उसका सबको अनिष्ट है। सत्य ग्रहण के लिये सबका यही उत्तर है, कि सत्यवादी बनेंगे तो घर गृहस्थी कैसे चलेगी ? लड़की की शादी करना है; लड़के की शादी करना है; अथवा बीबी के बच्चा होने वाला है—ख़र्च बहुत और आमदनी कम है। परन्तु यह उत्तर ऐसा है, कि मछली को पानी में डाल देंगे तो डूब कर मर जायगी; और व्रण को चीर देंगे तो व्याधि बढ़ जायगी; जैसे, नौका में बैठा हुआ मनुष्य अपने को चलता और किनारे के पदार्थों को स्थिर नहीं देखता; वैसे ही अज्ञानी सत्य से निर्वाह नहीं देखता है । यह सत्य त्याग का फल है, कि आय कम और व्यय अधिक है; यदि समाज सत्याग्रही होता तो अवश्य प्रगाढ़ व्यय की पद्धति पर परामर्श करता। दिन प्रति इसका भयंकर रूप होता जाता है। विशेष कर इस समय के व्यवहारही अत्याचार में प्रवृत्त करते हैं। इन व्यवहारों की ओर कोई ध्यान नहीं देता; और न संशोधन करता है। सब अपनी २ डपली और अपना २ राग गाया करते हैं; और अपनी ढाई लेंडी का कौंड़ा अलग ही सुलगाया करते हैं।

७

पुत्र जन्म से लेकर विवाह पर्यंत अनेक उत्सवों में बर बश इतना व्यय करना पड़ता है कि जो श्रद्धासे भी अपरिमित होजाताहै। तमाम आयुका अर्जन विवाहादि कार्य्यके लिये एक ही ग्रास को पूर्ण नहीं होता; जिसके निमित्त हमको अपने प्रिये शरीर का आधा रक्त स्वाहा करना पड़ता है, और इस चक्कर की गति इतनी तीव्र हो जाती है, कि इस जन्म में भी समाप्त न हो कर अगले जन्म तक चालू रहती है। इसके उदाहरण के लिये हमएक चित्र विवाहका पाठकोंको खींचकर बतलाते हैं:—

"मान लीजिये कि किसीके एक कन्या है। उस मनुष्य को

बीस रु० मासिक वेतन मिलता है। वह अभी अपने ही विवाह से उऋण नहीं हुआ है। और कुमारीकी शादी समीप आ रही है। अब कोई महाशय दान दहेज में पांच सौ, कोई चार सौ, कोई तीन सौ, कोई दो सौ मांगेंगे और कोई सैकड़े पर ही मन का सम्बोधन कर सकेंगे तो कर लेंगे; परन्तु एक और तुर्रा वांधेंगे कि हम अपने भले रूप के माफक वारात लावेंगे, जिसका सुन्दर सत्कार आपको करना होगा। देना लेना जैसा कुछ होगा होता रहेगा। वरात में हम गजराज, गयंद किश्वान, और यदि मिल सकेगा तो एक रात को एरावत भी लावेंगे। सौ दो सौ आदमी लावेंगे और रंडी, भांड़, भमैया, कुत्ते, बिल्ली घपड़ सपड़ सब लावेंगे; यद्यपि हाथी घोड़े आपके निजी नहीं हैं और न सौ दो सौ आदमी आप के नौकर हैं। फिर कहां से लावेंगे? सुनिये, हम बतलाते हैं और साथ ही आपके महत् स्वरूप का निर्णय भी करते हैं; जिसके माफक आपके साथ चतुरंगनी सेना चलेगीः—

नीचे से ततूरी ऊपर से धूप, पसीने से तरबतर लाल मुंह किये, ग्रीषमऋतु की दोपहरीमें—विवाहगरमी के समयमेंबहुधा होते हैं—द्वार द्वार फिरेंगे, हा हा करेंगे, हाथ पैर जोड़ेंगे, पैरों पर शिरघसीटेंगे, बहुत कुछ आरजू मिन्नत करेंगे,और नहीं करने केभयसे धीमी२ आवाज़से कहेंगे "वरात में...चलने की...कृपा ...कीजिये" मेरी लाज परदा और शोभा प्रतिष्ठा सब आपके हाथ में है; कदाचित आप वरात नहीं चलेंगे तो हमारी सब इज्जत दो कौड़ी की हो जायगी और बड़ी भारी भद होगी। हमने सौ दो सौ आदमी लाने के लिये कहा है—जिसमें सौ तो सरदार और सौ असरदार, एक हाथी दस घोड़े, एक रंडी इतने में एक भी सुभीता नहीं है सब अमुक२ वरात में चले गये

हैं। अब हमारी बिगरी और लुटिया डूबी! बड़े शोक का समय है!! इतना शोक सात पीढ़ी नरक में पड़ी हों तो न होगा, जितना बरात का समारोह न होने में होगा। क्यों भला? बरात की शोभा की इतनी चिन्ता और सात पीढ़ी नर्क में पड़ने की कुछ भी नहीं? नरक की यूं चिन्ता नहीं है, कि लड़के का बड़ी धूम धाम के साथ व्याह तो कर लं; फिर यदि होगा तो बहू बेटाको यहीं छोड़ दोनों समधी मय दोनों समधिनो के उसी नरक में जावेंगे; और सब हिल मिल कर वहीं रहगे; क्योंकि बाप दादे और परदादे सब वही मौजूद हैंगे। यह परम आनन्द है, और अवश्य मौजूद हंगे; यदि उन्हों ने भी हमारी जैसी शादियां की हैं। हमारे बापकी तो हमको मालूम है, कि हमारी शादी उन्होंने की थी; पांच सौ रुपया अमुक सेठ का उधार लिया था; वह असत्कर्म करते २ और सेठजी का रुपया देते २ मर गये—असत्कर्म का फल नरक अवश्य है—जिस पर भी सेठ जी का रुपया बाक़ी रहा वह अभी तक हम दे रहे हैं। और अब बेचारे ने इस लड़के की शादी को भी और रुपया दे दिया हैं। बाप की शादी दादे ने की होगी, और दादे की शादी पर-दादे ने की होगी। आश्चर्य नहीं कि यही दशा उनकी भी हुई हो, जो हमारी और हमारे बाप की हुई है। इनसे पूर्वजों की शायद न हुई हो; क्योंकि यह आधुनिक पद्धति की भूल भटक है। प्राचीन पद्धतियों का निर्मल आदर्श हम पीछे संग्रह कर चुके हैं, उस समय स्वयंवरी और गांधर्वी विवाह का चलन ग्रंथ प्रसिद्ध है। यही हाल बिटिया के बाप, दादे परदादे इत्यादि का समझना चाहिये।

जब दूल्हा का जनक ऐसी कठिन तपस्या द्वारा बरात बना कर लावेगा, फिर दाने की मांग, घासकी मांग, भोजन की मांग

तथा अनेक आवश्यक वस्तुओं की मांग लड़की वाले पर पड़ेगी येचारा कितना ही देनेपर कभी कभी पूरीनहीं करसकेगा। हाथ-पैर जोड़ने पर भी बात २ पर सुश्रूषा करने पर भी बरात के कुटिल वचनों का सहन करेगा। तिस पर भी बराती अपनी अकड़-धकड़, शान-शौकत हंता में मस्त हो कर अपने मान सम्मान का समाहार करेंगे; जैसे, कोई अपने मान-हानि* के प्रतीकार† में बड़ी सम्पदा‡ अपहरण|| करने का अवसर पा रहा हो। बराती अपना श्रेय गौरव बतला कर औरों के अनेक दूषण सम्पादन करेंगे, और इन्हीं व्यर्थ अभियोगों के सम्वाद में बराती भोजनों को न जायेंगे। सैकड़ों रुपया का सिद्ध भोजन चिलचिलाता हुआ अपथ्य होगा। अधिक जटिल काफिया रचनेका स्थान नहीं है, दोतीन दिनमें इसी तरह बड़ी कठिनता और संकीर्णता से ब्याह का व्यामोह और आनन्द समाप्त हो कर, केवल क्वचित उपहांस और प्रसंशा कुछ दिनों को शेष रह जायगी। इस प्रकार कि अमुक महाशय के यहां बड़ी बरात आई थी। बरात का आदर सत्कार अच्छा किया गया; परन्तु अमुक २ त्रुटियां दोनों ओर पाई गई। पंगति में पूड़ी मुलायम नहीं थी, बड़ा छोटा था, दही खट्टा और मिठाई मीठी ज्यादा थी, इससे खाई नहीं गई मालपुआ भी अच्छा नहीं था क्योंकि नरम था!

एवं किञ्चित नाम के लिये जिससे कोई अर्थ सिद्ध नहीं होता, भले बुरे कर्मों द्वारा अथवा पेट काट २ कर उपार्जन किया हुआ अथवा साहूकार से लिया हुआ द्रव्य अल्पकाल में भक से उड़ा दिया जाता है। मंगतों को टुकड़ा नहीं निकाला जाता और अभिमानियों को हा हा कर खिलाया जाता है,

*हतक इज्जत, †भावजा, ‡माल, ||कुर्की

जिसका बदला पाप त्याग पुण्य कुछ भी नहीं मिलता है। बहुत से साधरण और हीन मनुष्योंको तो विवाह देवता सन्यस्त दे जाते हैं, अर्थात् विवाह पश्चात् किसी २ को खाने को अन्न और पहिरने को वस्त्र नहीं मिलते, दो २ दिनका अनशन व्रत उनको धारण करना पड़ता है। यह मेरा अनुभूत विषय है। पेट भी बुरी बला है बिनाखाये रहानहीं जाता है। तु० रामायणमें कहाहैः-

चौ०—"आरत काह न करहिं कुकर्मू ।
स्वारथ लाग तजहिं निज धर्मू ॥"

आर्तदशा में चाक्रायण ऋषि ने हाथी के उच्छिष्ट चना खाये थे और विश्वामित्रने चांडाल के यहां कुत्ते का मांस चुराया था। कामदेव और अजीगर्त इत्यादि ऋषियों को भी ऐसे ही कर्म का सहारा लेना पड़ा, तो हम अधीर लोग क्यों दुष्कर्म में प्रवृत्ति नहोंगे? परन्तु हमारा दुष्कर्म पाप विशिष्ट होकर हमको दंडपाशिक है; क्योंकि हमने आपत्ति स्वयं बुलावा देकर विवाहादि कार्य्य के बदले बुलाई है, और उक्त ऋषियों की आपत्ति विना बुलावा स्वयं आई हुई है—इस कारण ऋषियों का अपराध क्षमत्व का भागी हो सकता है; हमारा नहीं। छांदोग्य में चाक्रायण ऋषि की कथा है। उसी में यह भी कहा है कि यदि ऋषिवर चना न खाते तो जीवत न रहते। चांडाल ने जब विश्वामित्र को चोर २ कहा तब उन्होंने उत्तर दिया किः—

श्लो०—"जीवितं मरणात् श्रेयो जीवन् धर्म मवा प्नुयात पिवन्त्ये वोदकं गावो मंडु केषु रुवहस्वपि। नतेऽधि कारो धर्मैऽस्ति माभू रात्म प्रशंसकः ॥ (म० भा० शां० १४१)

अर्थः—मरने से जीवत रहना श्रेष्ठ है क्योंकि जीने से धर्म प्राप्त हो सकता है। अरे! चांडाल व्यर्थ अपनी प्रशंसा मत कर मेंढक टर्राया करते हैं और गौयें पानी पिया करती हैं। तुझे अधिकार नहीं कि तू मुझे धर्म का उपदेश दे।

इस प्रकार का चोर कर्म दंड योग्य नहीं कहा जा सकता। किसी शास्त्र का यह उद्देश्य कदापि नहीं है कि कुत्सित आचरण करके द्रव्य सञ्चय करना, और फिर विवाहादि उत्सवों में व्यर्थ उड़ा देना। पाप कर्म का प्रतिकार मनुष्य पाये विना नहीं रह सकता, क्योंकि ईश्वर परम विवेकी और सर्वज्ञ है। यदि दुष्कर्म का भेद यहीं खुल जायगा तो कारागृह वास करना पड़ेगा; पैरों में बेड़ियां पहनाई जायंगी ; चक्की पीसना पड़ेगी और दरीं दुलीचा भी बनाना होंगे, जिन पर उत्सवों में लोग बैठा करते हैं। गृहणी जो परदा में रहा करती थीं, दो दो पैसे का पीसतीं फिरेंगीं। परलोक में भी दुर्गति होकर नीच योनियों को प्राप्त होंगे।

तदय इह रमणीय चरणा अभ्या शोह यत्ते,
रमणीयां योनि मापद्येरन ब्राह्मण योनिंवा,
क्षत्रिय योनिंवा, वैश्य योनि वाऽय यइह कपूय,
चरणा अभ्या शोह यत्ते कपूयां योनि मापद्येरन्,
श्व योनिंवा सूकर योनिंवा चाण्डाल योनिंवा।

(छां ५—१०—८)

अर्थः—जिनके आचरण रमणीय हैं वे भोगार्थ रमणीय योनि को प्राप्त होंगे ब्राह्मण, क्षत्रिय; अथवा वैश्य योनि में और

जिनके आचार दुष्ट हैं वे दुष्ट योनि को प्राप्त होंगे कुत्ता, सूकर, अथवा चाण्डाल योनियों में।

एवं अधिक व्यय की कुरीतियां दरिद्रता का बीज और नर्क का साधन है। सुना जाता है कि:— "कोई महाशय अपनी पुत्री की शादी निमित्त अपनी सब सम्पदा (जायदाद) जो उनकी गुज़र का हेतु था, बेच कर अथवा रहिन कर शोक संविग्न बैठे हुये थे। उसी समय पुत्री ने पूछा कि आज आप उदास क्यों हैं? पिता ने यथार्थ उत्तर न दिया। तब उसने फिर पूछा तो पिता ने जो वृतान्त था कह दिया। पुत्री को पिता के दुःख का अत्यन्त व्यामोह प्राप्त हुआ; और उसने निश्चय किया कि पिता के सच्चे दुःख का कारण मैं हूं। जब कि मेरे व्याह में पिता की सम्पदा अपहरण हो जायगी; तो फिर मेरे माता पिता और भाई बहिन क्या खांयगे, इससे उत्तम है कि मैं अपना जीवन यहीं समाप्त कर इतने मनुष्यों का दुःख दूर करूं—ऐसा विचार कर परम दयालु कन्यका ने आत्म घात कर प्यारे पिता का शोक दूर कर दिया।" जो दीर्घ दर्शी प्रथित पुरुष इन भयंकर कुरीतियों का किसी उपाय से निवारण करेंगे, उनको इसका प्रत्युपकार अनेक अश्वमेध के फल के तुल्य होगा।

जो द्रव्य व्याह शादियों में लुटाया जाता है; यदि वह निर्धन मनुष्यों को दान दे दिया जाय, तो उनका सारा जीवन सुखमय हो सकता और दान का उत्तम फल दाता को प्राप्त हो सकता है। मान लीजिये कि एक मध्यम शादी में हज़ार रुपया खर्च होता है। ऐसी शादी प्रति वर्ष एक हज़ार से अधिक हुआ करती हैं तो सब शादियों में दस लाख रुपया खर्च होता है। यदि सौ २ रुपया एक एक दीन को दान दिया

जावे तो दस हज़ार दीन पुरुषों की गुज़र भली भांति हो सकती है । इसमें चौक गौना और पुत्र जन्म इत्यादि अनेक उत्सव और अधम, उत्तम शादियों की गणना नहीं है। यदि इन की गणना की जावे तो और भी विशेषता होती है। यह अधिक व्यय का चलन साधारण मनुष्य बन्द नहीं कर सकता है—विशेष प्रभाव शाली प्राज्ञ पुरुषों का कर्तव्य है। जो इसको बन्द कर सकता है, वह मानो नर्क के फाटक को बन्द कर स्वर्ग का खोलता है । उसको अनेक अश्वमेध के फल में क्या सन्देह है ? जैसे शूल शमन के लिये गुड़ में लपेट के चूना खिलाया जाता है; वैसे ही प्राचीन सभ्यता के साधारण साधनों तथा नियमों में परम कल्याण कारक युक्तियां वेष्टित हैं; परन्तु प्रांशु प्रज्ञा से वही प्रयोग उलट पलट व्यवहार करने से अनुपयोगी वदन विदारक हो गये हैं।

॥ इति गीता सत्ययोग अष्टम् पोड़ समाप्तः ॥

नवम् पोड़ ।

सत्ययोग—सम्प्रधारणा ।

श्लो०—सन्यासः कर्म योगश्च निःश्रेय सकरा वुभौ ।
तयोस्तु कर्म सन्यासात् कर्म योगो विशिष्यते ॥
(५—२ गीता)

अर्थः—संन्यास और कर्मयोग दोनों कल्याण कारक हैं; परन्तु कर्म-सन्यास से कर्म-योग विशेष है।

प्रथम काल से मनुष्य को चिरस्थायी सुख प्राप्त करने की आकांक्षा रहती आई है, और इसके अन्वेषण के लिये वह अनेक कल्पना और अनेक प्रयत्न करते आये हैं। संसार में सर्व सुख उद्योग ही से प्राप्त होते हैं। कोई सच्चा प्रयत्न समूल व्यर्थ नहीं चला जाता। मानवी प्रयत्नों का परिणाम किसी न किसी रूप और अवस्था में अवश्यमेव भूयिष्ठ नहीं तो अल्पिष्ठ ही किसी अंश को सहानुभूति प्रगट करता है। स्थित रहने से पर्य्यटन में कुछ नहीं तो भोजन पचने का ही लाभ होता है। बिना प्रयत्न के मनुष्य ख़ाक भी नहीं पहचान सकता, जो दृष्टि

में हर वक्त रहती है। यद्यपि मनुष्य में यह स्वाभाविक गुण है, कि जिस पदार्थ को वह देखता या सुनता है, उसका आद्यन्त जानने की या पाने की लालसा करता है; परन्तु उद्योग किये बिना कुछ नहीं जान सकता और न कुछ पा सकता है। तृषा की तृप्ति के लिये जल ढूंढ लेना मनुष्य का साधारण और परतंत्र कर्तव्य है; परन्तु नित्य व्यवहारिक वृत्ति से विशेष किसी ऐसे साधन का सिद्ध कर लेना पुरुषार्थ है, जिससे किसी विशेष पदार्थ का लाभ हो। गांव, जागीर और राज पाट मिल जाना मनुष्य के लिये कोई विशेषता नहीं है और न इनसे अधिक सुख प्राप्त होता है, क्योंकि जिसे नित्य श्रेष्ठ भोजन प्राप्त होता है, उसे भोजनमें स्वादिष्टता ही नहीं रहती; जैसे नित्य दुर्गन्ध में रहने से नाक को दुर्गन्ध मालूम नहीं होती। यदि श्रेष्ठ मनुष्य को किसी समय भोजन इत्यादि में उत्तम पदार्थ प्राप्त न हों तो दुःख अवश्य होगा; जैसे गेहूं का खाने वाला सांवा इत्यादि को नहीं पचा सकता। केवल भोजनार्थ उचित अनुचित कार्यकलाप में अपनी पूर्ण शक्ति को प्रवृत्त करना, ईश्वरीय शक्ति का मान निस्तहण करना है। खाने पीने का उद्योग तो बालक भी रो पीट के कर लेते हैं; यद्यपि पर्याप्त अशन प्राप्त कर लेना मनुष्य की साधारण कृत कार्यता नहीं है; तथापि विद्यावान् और श्रद्धावान् भी दिन रात खाने पीने ही के धन्दे में निमग्न रहते हैं तो उनको धन्य नहीं कह सकते हैं। मैं जानता हूं कि धनिक और निर्धन सब इसी वृत्ति के दर्शक हैं और सब इसी की चिन्ता में अमूल्य जीवन के दिवस व्यतीत करते हैं—यहां तक कि राज्यों साम्राज्यों को भी इस काम से फ़ुरसत नहीं आती; परन्तु इसी काम को जो सत्यता से करते हैं, वह अभय पद को प्राप्त होते हैं, और जो असत्यता से करते हैं, वह धर्म वासना से विरक्त रहते हैं।

जो काम सत्यता से किया जाता है उसमें मनुष्य लिप्त नहीं होता, क्योंकि जिस कर्म में मनुष्य फलाशा रहित न होगा उस कर्म में असत्य अवश्य साधर्म् होगा। जो कर्म फलाशा रहित है, वही निष्काम कर्म कहा जा सकता है; निष्काम कर्म कर्ता और सत्कर्म कर्ता दोनों अपने २ कर्तव्य पालन में उस समय तक दृढ़ नहीं रह सकते जब तक कि उनको ऐसा ज्ञान दृढ़ न हो कि "संसार विना स्वामी का (लावारस) नहीं है, जब कि संसार का कोई स्वामी है, तो वह अपने पदार्थों की यथोचित रक्षा अवश्य करेगा। मैं अपना अथवा अपने प्यारे बन्धुओं का संरक्षण उससे विशेष नहीं कर सकता हूं" जितने ज्ञान की आवश्यकता निष्काम कर्म करने के लिये है, उतनी ही सत्कर्म करने के लिये भी है। जो निष्काम कर्म करना चाहेगा, वह सत्कर्म त्याग और क्या करेगा ? यदि कोई चाहे कि मैं निष्काम कर्म करूं और सत्कर्म न करूं तो वह सत्कर्म न करके भी सत्कर्म ही करेगा; जैसे, तक्षन् लकड़ी न छील कर स्वकर्म कर्ता होने के लिये और क्या करेगा ? पैदल चलना और क़दम न रखना यह कैसे हो सकता है ? जो पैदल चलेगा वह क़दम ही रखेगा। जैसे पैदल चलने और क़दम रखने में एकता है, वैसे ही कर्म योगी बनने और सत्कर्म करने में एकता है। जब कि निष्काम कर्म करने और सत्कर्म कर्म करने में अभेद सिद्ध होता है, तो समस्त गीता शास्त्र का भी फलितार्थ "सत्य-सम्प्रधारणा" होता है।

गमन करने के लिये जैसे मार्ग का आधार रहता है, गमन करनेवाला चाहे कोई हो—गोरा अथवा काला—और चाहे कहीं को जाना चाहता हो, विना रास्ता के जाना सहज नहीं है; वैसे ही विना सत्य के किसी धर्म पद का पाना सम्भव नहीं

है। केवल गीताकाही नहीं वरन् सम्पूर्ण धर्मों और ग्रन्थों का यही फलितार्थ जानना चाहिये। यही रास्ता ब्रह्मचर्य, गृहस्थ वाणप्रस्थ, और सन्यास चारों आश्रमों में भी प्रवेश करता हुआ परमस्थान को जा पहुंचता है। सन्मार्ग के ग्रहण से चारों आश्रमों की यात्रा का लाभ अनायास प्राप्त होता है। आश्रमों में विश्राम करने न करने का अधिकार यात्री को है; जैसे, पद्मों में सन्धि करने न करने का अधिकार वक्ता को है। यद्यपि आश्रमों में वास करने से पान्थों को सुगमता बहुत है, और पथिकों के सुगमतार्थ ही तत्वज्ञों ने आश्रम नियत किये हैं; परन्तु कर्म योग में और भी विशेषता है। प्रथम योगियों के चलते २ और गिरते पड़ते निष्काम कर्म रूपी सुमार्ग बन गया है और उसमें सत्कर्म रूपी सद्य फल देने वाले नाना वृक्षों का आरोपण भी हो गया है। जैसे, विद्यालय में विद्यार्थी क्रमशः नियत कक्षाओं में प्रवेश करते हैं, वैसे ही मुमुक्षु भी चारों आश्रमों में प्रवेश करके ज्ञान प्राप्त करते हैं; परन्तु जहां विद्यालय ही नहीं हैं, अथवा कक्षाओं का नियम ही नहीं है, वहां के के विद्वान् स्वकीय (प्राइवेट) शिक्षित क्या विद्वान न समझे जायंगे, और क्या उनका ज्ञान अनुपयोगी अथवा उपजाप कहा जायगा? यह कोई नियम नहीं है, कि मनुष्य बिना आश्रमों के प्रवेश किये कृतार्थ न होंगे। तदात्व प्राचीन जैसी आश्रमों की व्यवस्था ही नहीं है।

'योग' उसी का नाम है जिसमें चित्त वृत्तियों का अनुरोध हो और सन्यास उसका नाम है जिसमें संसार का त्याग हो; परन्तु सिद्धान्त दोनों का एक ही है। जो कर्मों का त्यागी होकर मन से विषयों का स्मरण करता है वह त्यागी नहीं हो सकता है; और जो इन्द्रियों से कर्म करता हुआ अंतःकरण से

विषयों को नहीं चाहता वही सन्यासी और योगी है। अंतःकरण की अनुमति रहित कोई काम सत्यमय नहीं कहा जा सकता। सन्यासी दल में युद्ध चिन्ह अब तक पाये जाते हैं, इससे विदित होता है कि सन्यासी लोग युद्ध विशारद हुआ करते थे; और अत्याचारी राजाओं को भी दण्ड दिया करते थे। अत्याचारियों को दण्ड देना और उनका अत्याचार छुड़ाना अर्थात् सत्य की रक्षा करना—यह भी सत्कर्म ही करना हुआ। एवं सत्याग्रही मनुष्यों को भी सत्य रक्षक समझ लेना चाहिये। यदि कहा जाय कि संन्यास में शिखा सूत्र का भी त्यागन हो जाता है, और इस रंग में स्त्री-पुत्र का भी त्याग नहीं होता। परन्तु जिसका परम प्रिय प्राण भी सत्यार्थ अर्पण है, उसको अन्य त्याग क्या वस्तु है? गृह में रहने से सुत दारादि और गृह वस्तुओं से अवश्य मोह बना रहता है। मनुष्य कितना ही दृढ़ प्रतिज्ञ क्यों न हो। स्त्री समीप में रहना और ब्रह्मचर्य में हानि न आना ऐसा ही है; जैसे, माखन की मूर्ति अग्नि में दृढ़ (साबित) रहना। इसके लिये जहां तक हो सके दूर रहना ही भला है, जब तक कि अभ्यास पक न जाय। परन्तु गृहस्थी से इस प्रकार का दूर रहना सन्यास नहीं है, क्योंकि सन्यास, वानप्रस्थ जय के पश्चात् है। वानप्रस्थ उसका नाम है जिसमें स्त्री पुरुष साथ रहते हैं और प्रसंगित नहीं होते। जब वानप्रस्थ में मनुष्य जितेन्द्रिय हो जाता है, तो मालूम होता है कि सन्यास सिद्ध अवस्था का संकेत है; परन्तु सन्यास सिद्ध अवस्था को भी नहीं कहते हैं; क्योंकि सिद्ध अवस्था सन्यास का फल है। तो फिर सन्यास किसको कहना चाहिये? फलतः ज्ञात होता है कि सन्यास परम वैराग का नाम है। सं+नि+अस्=सन्यास, सम्=भली भांति से, नि=अच्छी तरह से, अस्=फेंकना, त्याग, अच्छे से अच्छा अर्थात् महा त्याग अथवा निःशेष त्याग का

नाम संन्यास है, जिसमें फिर और कुछ त्यागने योग्य शेष नहीं रहता। जनक इत्यादि के समान निष्काम बुद्धि से लोकोपकारक कर्म करते रहना; अथवा कर्म धन्दा छोड़ कर शिखा सूत्र का भी परित्याग कर नंग धड़ंग फिरते रहना दोनों दशाओं का एक ही परिणाम है। परन्तु फिर भी शरीर निर्वाह के लिये नंग धड़ंग को भी कुछ उपाय करना ही पड़ेगा। विना कर्म किये संसार में कोई रह नहीं सकता। संन्यास लेकर वैराग में पूर्ण अभ्यास कर लेना अर्थात् वैराग सीख लेना सन्यास का तात्पर्य है; परन्तु जो वैराग की परा काष्ठा को पहुंच गया है और वैराग का वास्तविक तत्व जिसने जान लिया है उसको घर और वन एक ही है। इस लिये गीता (६—१, २) में भी कहा है कि— "जो सर्व संकल्पों का त्याग कर अनाश्रित करनेयोग्य कर्म (सत्कर्म) करता है, वही संन्यासी और योगी है—निरग्नि और अक्रिय नहीं है।"

योगाभ्यास अर्थात् योग क्रियाओं का करना—जैसे, कमलासन, वज्रासन, इत्यादि का सिद्ध करना, चक्रों को वेधना कुंडलनी नामक शक्ति को जागृत करना, प्राण वायु को ब्रह्मांड में ले जाना, कुंडलनी को चन्द्रामृत का पिलाना, अणिमादिक सिद्धियां तथा अनेक विभूतियों का प्राप्त करना, और पश्यंती को पाना इत्यादि—और सोमवल्ली विडंग इत्यादि रसायन का सेवन करना, जिनसे दिव्य शरीर हो कर हजारों लाखों वर्ष की आयु हो जाती है अथवा मोक्ष मिल जाती है, बिना योग्यता के नहीं हो सकता है। जो कार्य्य योग्य होकर किया जाता है वह करते ही फल दायक होता है। योग्य होना हर किसी की शक्ति नहीं है। जब ईश्वर की कृपा होती है तब ही ऐसे कार्य्यों का संयोग मनुष्य को प्राप्त होता है। ईश्वर को प्रसन्न करने

वाला सत्य व्रत महा मंत्र है और वैराग रूपी श्रेष्ठ प्रदेशन है। उपशा रूपी प्रथम कक्षा में अदक्ष शैक्ष कदापि शास्त्रीय परीक्षा में प्रवेश पाने योग हो सकता? सत्य सेवन से मनुष्य शक्तिवान होता है, दीर्घ जीवी होता है; और उसका आत्मा नैरमल्य दशा को प्राप्त होता है; क्योंकि निर्भयता और नैराशता, मनुष्य के लिये वैद्यक शास्त्र भी स्वास्थ का परम हेतु कहते हैं। भय, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सर और अहंकार इत्यादि की वेदना और चिन्तना से मनुष्य निहर्ष रहता है; जिससे आयु क्षीण होतीहै और नानारोगों काआक्रमण होताहै। सत्यमें ध्रुवधारणा होने से इन सब का सम्पर्क टूट जाता है, और मनुष्य अशोक चित्त हो जाता है। जिस गृह में खाद्य वस्तु नहीं रहेगी वहां मूषक रह कर क्या करेंगे?

एक संतोष प्राप्त न होने तक मनुष्य को सुख की अधिक उत्सुकता रहती, और उसको सुख की अन्वेषणा अत्यन्त कठिन मालूम होती है, परन्तु जब संतोष प्राप्त हो जाता है, तो सुख बटोरते नहीं बनता। सत्य से परम सन्तोष का आविर्भाव होता है। शेष कर्म प्रक्लिन्न प्रद नहीं है, उनका सर्वथा त्याग करना और जीवन पर्य्यन्त सत्य वर्तना ही कल्याण है। मनुष्य का प्रतिष्ठा सूचक साधन सत्य सा अन्य नहीं है। जिस मनुष्य में सत्यता है वह मनुष्य रूप में साक्षात देवता या जीवन मुक्ति कोई योगी है। सत्य हीन मनुष्य कर्ण के समान दान करता हुआ और योग प्रवर्तक पतञ्जलि मुनि के समान योग करता हुआ भी पापाचार करता है; किन्तु भूल से अपने को धर्माचारी और योगी समझता है; जैसे, दृष्टि हीन कोल्हू का बैल एक ही जगह बार २ चक्कर करता हुआ जानता है, कि मैं आगे बढ़ रहा हूं। मनुष्य का जीवन महत्व जैसा सत्यता से सम्पादित होता

है, वैसा कुबेर के समान धन, इन्द्र के समान ऐश्वर्य्य, और बृहस्पति के समान विद्या पाकर भी नहीं हो सकता। अम्बिया औलिया, ऋषि, मुनि, महात्मा, गुरु, देवता, और योगी इत्यादि जितने माननीय और पूजनीय पुरुष हुये हैं, वह सत्य ही के प्रताप से हुये हैं; और उन में से कितने ही ईश्वर के अंश और अवतार समझे गये हैं; यदि वह लवर चट्टोई फांकते तो कौन उन को पुरुषोत्तम कहता? मनुष्य में बल, बुद्धि, योग्यता, चतुराई, ज्ञान, ध्यान, औ शुचिता सत्य रहित ऐसी है; जैसे, हाथ में हाथ मिला कर जेब काट लेने की चालाकी और होशियारी तस्करों में होती है—विद्यावान् चोर बड़ा साटपो चोर होता है—छोटे से छोटा मनुष्य जिसमें बल न हो, विद्या नहो, योग्यता नहो, कुल श्रेष्ठता नहो, और धन भी नहो; परन्तु सत्यवान हो, वह धीरे २ किसी समय अवश्यमेव समाज का पुरस्सर बन जाता है। सत्यउपधा में जिसकी जितनी योग्यता होगी समाज में उतना ही सन्मान उसका प्रतिश्रुत होगा; और जिसकी सत्य संश्रव में ऐसी दृढ़ता है, कि प्रकृति चाहे अपने स्वभाव का परिवर्तन करदे पूर्व का भानु पश्चिम में उदय होने लगे' परन्तु सत्यवान सत्य का त्यागन न करे, उसका एक २ शब्द जो उसके मुंह से निकलता है ऐसे समर्थन किया जाता है; जैसे, तितऊ-रन्ध्रों से गिरा हुआ आटा। और उस का प्रत्येक उपदेश ऐसे महात्म का होता है; जैसे गंगा से विमल जल की विरति, विवेक, सहानुभूति, और सभ्यता इत्यादिक रूपी परमोपकारक अनेक धारायें बहती हों। यह धारायें भी ऐसे महात्म की जानना चाहिये, कि इसमें सानुराग स्नान करने वाला अथवा पान करने वाला [illegible] शुद्धता को प्राप्त हो जाता है।

एवं लोक न्याय, देश न्याय, धर्म न्याय, कर्म न्याय, तत्व न्याय, योग न्याय, शास्त्र न्याय, संघ न्याय, आत्म न्याय, अध्यात्म न्याय, ज्ञान न्याय, और अज्ञान न्याय इत्यादिक सर्व न्यायों की मीमांसा सत्य की ही समर्थना करती है, और सर्व गुरुओं तथा लब्ध वर्णों की उपदेशक सहूंति है। इसका साधन भी प्रत्येक मनुष्य को प्रत्येक दशा में सुगम और सां दृष्टिक अभय समर्थक है। अतएव बार २ कह आता है, कि चिरस्थायी सुखा कांक्षी मनुष्यों को अनेक प्रत्यूहों के तुमुल में भी अभिक्रम से धर्षक और संरक्षक होकर सत्याग्रह करना चाहिये। 'सत्य', मनुष्य—स्वार्थ के लिये कृष्ण के समान प्रवाहक, प्रहत्त और प्रह्न प्रति भूतिक है। जो सत्य का प्रत्याख्यान करते हैं, वह ईश्वर के प्रतीप दीन और दुनियां दोनों के नहीं रहते हैं।

॥ इति गीता सत्योग नवम् षोड़ समाप्तः ॥

अयोध्या प्रसाद "रत्नाकर"

"नास्ति सत्यात्परो धर्मः"
به از راستی در جهان کار نیست
که در گلبن راستی خار نیست
सत्यरागी, सर्व त्यागी
सत्यत्यागी, सर्व रागी ।
ग्रंथकार का लक्ष्य चित्र
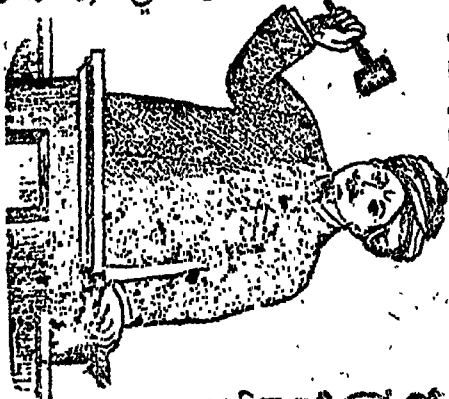
पृष्ठचूलिका।

अथवा परिशिष्ट प्रकरण।

सत्य परायण—प्रस्तावना।

दोहा—कहते हैं करते नहीं, ते नर बड़े लबार।
काला मुखड़ा होयगा, साहब के दरबार॥

(कोई कवि)

सामयिक प्रस्तावना प्रस्तुति करने की प्रणाली प्रायः पुस्तक से व्यतिरिक्त, विशेष कर प्रारम्भ कतिपय संमास पृष्ठ में प्राप्त होती है; और सब उपयोग भी इसी पद्धति का करते हैं—उत्तम भी यही है; क्योंकि इस में प्रतिपादित विषय के उपक्रम और उपसंहार का संक्षिप्त विवेचन मात्र और निर्णीत क्रिया का निरीक्षण किया जाता है। परन्तु यह प्रस्तावना, ग्रंथ व्याप्त-तत्व को स्वयं स्वीकारित करने की प्रतिज्ञा संयुक्त होने के कारण प्रसंग तन्तु भ्रष्ट न होने के भयावेश से, ग्रंथारम्भ में उक्त प्रस्तावना को स्थान न देकर, प्रसङ्ग पंक्ति के क्रम कार्य्य को सुशोभित करने के हेतु, अलङ्कार युक्ति से यहां ग्रंथ प्रादुर्भाव का किञ्चित प्रस्ताव निवेदन किया जाता है:—

इस अकिञ्चन को सत्य व्रत के मित्र वनने की जिज्ञासा अल्पायु से थी, जब कि मेरी अवस्था लग भग १५—१६ वर्ष के थी। उस समय हरिश्चन्द्र इत्यादि सदाचारी सत्पुरुषों के सच्चरित्र मेरे हृदय को इस प्रकार उतावल करते थे; जैसे, मनोहर स्त्री का कटाक्ष कामातुर पुरुप को। मैं इसके लिये निश्चय नहीं कह सकता हूं, कि यह संस्कार मेरे अंतःकरण में पूर्व कृत वपन था, अथवा क्या? फिर आयु वृद्धि के साथ २ यथा क्रम इस संस्कार का अंकुर भी प्रचुरता को प्राप्त होता गया। अनेक आपत्तियों की संकीर्णता से यद्यपि यह अधिक संकुचित दशा में रह कर विस्तीर्ण भाव को प्राप्त न हो सका; तथापि ग्रंथावलोकन का प्रोत्साह स्थिर रहने के कारण उक्त अंकुर स्थिर अवश्य रहा। अपक्वावस्थाका संस्कार पक्वावस्था में पक जाता है। अतएव अब ३२ वर्ष की आयु में उक्त तत्व के प्रशरण्य को मेरा अंतःकरण अत्योत्साहक हो गया। यदि मुझे सच्चा उपदेशक इस तत्व का मिल जाने का कभी सौभाग्य प्राप्त हो जाता, तो हमारे शास्त्रकारों का यह कहना निरर्थक न होता, कि—'इच्छा रहित मनुष्यों को शिक्षा देना अपात्र रूपी चलनी में दूध डालना है।' परन्तु मुझे अतिरिक्त पुस्तकों के आज पर्य्यन्त सच्चा शिक्षक नहीं मिला। पुस्तकें भी विना द्रव्य के अधिक देखने में नहीं आईं। सच्चा उपदेशक वही है जिसका निर्व्याज भाषण और साधन है। अर्थ-लोलुप शास्त्रार्थ करने वाले शास्त्री और वहिरंग ज्ञान के प्रकाशक विज्ञ पंडित अनेक हैं, जो वृहति-व्रत ब्रह्मचर्य्य का रौचक शब्दों में व्याख्यान देते हुये केवल वाग्विलास करते हैं; और सुन्दर अङ्गनाओं की ओर घूर २ कर ताकते हुये सूक्ष्म भाव से कटाक्ष भी करते जाते हैं। मेरा कहना यह नहीं है, कि सच्चे उपदेशक हैं ही नहीं, जो हैं उनकी पद्त्राणक रेणु तक मेरा पहुंचना अगम है।

मुझे अपनी १२ वर्ष की आयु से उदर पोषण का उद्योग स्वयं करना पड़ा है; और उसी दशामें विद्योपार्जन भी किया है। सिवाय जननी के स्वकीय सहायक मेरा अन्य कोई नहीं था। जननी से उत्तम सहायक कोई हो ही नहीं सकता है; परन्तु श्रम आजीवका द्वारा माता का बालक को पालना कहां तक उपयोगी हो सकता है। कोई २ तारतम्य सहायक हुये भी हैं; उनका मैं चिरबाधित होकर उनके लिये हार्दिक धन्यवाद देता और आशिष समर्पण करता हूं। बहुत सी आपत्तियों ने भी मेरे यहां पधार कर बहुत पोहनाई की है और अनुभविक शिक्षा प्रदान की है। प्रथम मैं उन आपत्तियों को दुःख मानता था; परन्तु अब ऐसी शिक्षा कारिणी मानता हूं, कि जो गुरू तथा शास्त्र मुख से भी पाना सुगम न था; जैसे अवेकशी प्रसूती की पीर का अनुभव नहीं कर सकती, वैसे ही वह मनुष्य जिसको विपत्यानुभव प्राप्त नहीं हुआ; किसी आपन्न हृदय की व्याकुलता को नहीं जान सकता है। केवल मिठाई का स्वाद सुस्वाद प्रतीत नहीं होता, जब तक कि लवण का स्वाद न पाया हो। मैं जन्म से ही श्रीहत् हूं। श्रीहत् मनुष्यों के सत्य शील कर्तव्य प्रशंसनीय नहीं कहे जाते। वह सदैव उत्तम कर्म करने पर भी अनुत्तम समझे जाते हैं; और न उनको कोई प्रतिष्ठित दृष्टि से देखता है। दरिद्र दशा में स्वच्छ हृदय मनुष्य भी आर्त विवश कुमार्ग गमन कर जाता है; जैसे, विश्वामित्र ने श्वपच के यहां श्वान मांस चुराया था, और चाक्रायण ऋषि ने हाथीकेझूठे चनों के दाने खायेथे*। एवंविपत्ति और अज्ञानदशा के कुत्सित कर्मों से मैं भी अघसूदन परमात्मा से क्षमत्व का प्रार्थी हूं। मेरा क्षुद्र हृदय स्वाभाविक रूक्ष और दुर्बल है, इस

*यह वृतान्त छांदोग्य में है।

से दुराचार की ओर जाने में स्वतः कम्पायमान होता है—अकंटक सत्य को निरतिशय पसंद करता है। वस्तुतः जीवात्मा का यह स्वतंत्र धर्म है, कि वह देहेन्द्रियों को सदा चरण की तरफ हमेशा प्रवृत्ति किया करे; क्योंकि आत्मा और सदाचार का अस्मसार और कान्ति शिला कैसा सम्बन्ध प्रतीत होता है। जब कि मनुष्य दुराचार की ओर रुचि करता है, हृदय तत्समय सदाचरण का पक्षपात करता है; और पश्चात् करने दुष्कर्म के पश्चाताप करता है। यही विशेष प्रत्यक्ष कारण मेरा सत्य धर्म पर आशक्तता का है। अन्य किसी धर्म पर मेरा मन ऐसा मोहित नहीं होता है, जैसा इस धर्म पर होता है।

मेरी यह अकांक्षा बहुत समय से थी, कि केवल सत्य को एक स्वतंत्र धर्म मान कर भिन्न प्रकार से इस पर कोई लेख अथवा ग्रंथ निर्माण होना चाहिये। जो प्रत्येक मनुष्य का परम कर्तव्य होकर मनुष्य को सांसारिक और पारलौकिक उभय लाभ का चोदक हो। यद्यपि सम्पूर्ण धर्म ग्रंथों में इस तत्व का निरूपण पाया जाता है, तथापि उससे यह स्पष्ट प्रगट नहीं होता, कि यही एक तत्व ओर से छोर तक सब का कल्याण कारक हो सकता है। मेरी सामान्य नहीं वरन् लघु स्थिति होने के कारण द्रव्य व्यय संकोच से प्रमाण के लिये आवश्यकीय पुस्तकें प्राप्त न हो सकने के कारण अभी तक उक्त इच्छा की पूर्ति न हो पाई। और अब छोटी मोटी दशा में हुई भी है वह यथा रुचि पूर्ण नहीं है, क्योंकि कार्पण्यता से द्रव्य त्रुटि में अधिक त्रुटियां रह गई हैं। क्षुद्र मनुष्यों के काम कहां तक महत्व पूर्ण हो सकते हैं—द्रव्य नहीं है, विद्या नहीं है, बुद्धि नहीं है, परिश्रम नहीं है, बल नहीं है, अध्यन नहीं है, मनन नहीं है, विचार नहीं है; किसी परीक्षा में उत्तीर्णता नहीं है,

और श्रद्धा (साहस) भी नहीं है, अर्थात् सब ओर से जहां देखता हूं असमर्थता ही का अधिकार दृष्टि पड़ता है। मुझ में इतनी भी योग्यता नहीं है, कि पाठकों के भावानुकूल आदरणीय शब्द व्यवहृत कर सकूं। पाठक मेरी इस पुस्तक को आदर न दे कर मेरी स्थिति का स्मरण कर अनादर न करेंगे; किन्तु बाल वाणी के तुल्य श्रवण करने को उद्धृत होंगे, और प्रशंसा न कर आश्वासन करेंगे। मैं कोई पंडित नहीं हूं, उपदेशक नहीं हूं, और कवि भी नहीं हूं। लघु श्रेणी में "पोंडकीपर" (ग्वाला) के पद पर नियत हूं। हर्ष और शोक का स्थल है, कि कहना चाहता हूं, परन्तु कह नहीं सकता हूं, और कहे विना रह नहीं सकता हूं, अर्थात् जो भाव मेरे अन्तःकरण में सूझ जाता है, उसको प्रगट करने की जिज्ञासा अपूर्ण रह जाती है; क्योंकि उसको प्रकाशित करने के लिये समुचित शब्द नहीं मिलते। यदि शब्द मिल जाते हैं, तो भाव पूर्ण रूप धारण नहीं करता। तिस पर भी कहीं साहित्य शास्त्र, कहीं धर्म शास्त्र, और कहीं लोकाचार इत्यादि भय दिखाते हैं। जो महाशय, कि इन कठिनाइयों को झेल चुके हैं, वही अन्याय की अपेक्षा इस कार्य्य क्रम को अधिक समझ सकते हैं। आप महत् पुरुष मेरी अयोग्यता की ढिठाई को क्षमा प्रदान करेंगे; क्योंकि तुच्छाशय मुहाफ़िज़ मवेशी खाना (वरैदी) का लकड़ वाक्कथन कहां तक लावण्यता प्राप्त कर सकता है। इसी कारण इस ग्रन्थ का नामकरण "नौ पोड़ा लट्ठ" किया गया है, जो मेरे लट्ठ पांडित्य का द्योतक है। मैं अपने उन शब्दों अथवा वाक्यों को भी वापिस ले सकता हूं, जिनको कि आप विज्ञ महाशय व्युत्क्रम अथवा अनुचित समझ कर सूचित करेंगे।

मैंने इस ग्रन्थ के निर्माण करने में लोक मान्य 'तिलक' के गीता रहस्य की प्रचुर सहायता ग्रहण की है; किन्तु यह निर्दिष्ट ग्रन्थ लोकमान्य के इस वाक्य की झलक है, जो "गीता रहस्य" के उपोद्घात (पृष्ठ ५१८) में लिखा है:—

"ज्ञान से और श्रद्धा से, पर इसमें भी विशेषतः भक्ति के सुलभ राज मार्ग से, जितनी हो सके उतनी समबुद्धि करके लोक संग्रह के निमित्त स्वधर्मानुसार अपने २ कर्म निष्काम बुद्धि से मरण पर्य्यन्त करते रहना ही प्रत्येक मनुष्य का परम कर्तव्य है; इसी में उसका सांसारिक और पारलौकिक परम कल्याण है; तथा उसे मोक्ष की प्राप्ति के लिये कर्म छोड़ बैठने की अथवा और कोई भी दूसरा अनुष्ठान करने की आवश्यकता नहीं है। समस्त गीता शास्त्र का यही फलितार्थ है, जो 'गीता रहस्य' में प्रकरणशः विस्तार पूर्वक प्रति पादित हो चुका है।"

विवेचक

जिस ब्रह्म का निरूपण वेद शास्त्रादि ग्रन्थ और प्रात्यादी योगीश जन सुगम रीति से नहीं कर सके हैं, उसे साधारण मनुष्य कैसे जान सकते हैं? शुष्क शरीपे अकिंचन मनुष्य तो उपरोक्त लोकमान्य के कथन का भी तात्पर्य सुलभता से जानने में असमर्थ हैं; जैसे कि 'निष्काम' क्या है? इससे

सत्मार्ग सेयथोचित सद्बुद्धि करके लोक संग्रहार्थ स्वधर्मानुसार सत्यता से कर्म करना मनुष्य मात्र का जीवन पर्य्यन्त परम कर्तव्य है; इसी में उसका सांसारिक और पारलौकिक परम कल्याण है। उसे मोक्ष प्राप्त के लिये कर्म संन्यास, अथवा अन्य कोई अनुष्ठान करने की आवश्यकता नहीं है। समस्त धर्म ग्रन्थों का यही रहस्य है। यहां सत्य भाषण ही 'निष्काम' शब्द का सरल अर्थ है।

सत्यता से कर्म करना सच्ची निष्कामता है और सत्यवाद ही बुद्धि की साम्यैकता है—असत्यवाद असमता है। ज्ञान, श्रद्धा, और भक्ति का सुलभ राज मार्ग इत्यादि समस्त सत्य साम्राज्य के अनुयायी हैं (देखो पोड़ ४था) राम कृष्णादि सत्पुरुषों ने भी सन्मार्ग का ग्रहण कर संसार में सत्कर्म का संचार किया है; और सब लोगों को करने का उपदेश किया है (देखो पोड़ ३रा) इससे प्रत्येक मनुष्य को इसी परिधि में कर्म करना अति श्रेयस्कर है।

अपने मुह अपनी प्रशंसा शोभा नहीं देती, इस कारण बहुधा कवि अपनी बुद्धि की मंदता वर्णन किया करते हैं; यथा तु० रामायणेः—

चौ०—छन्द प्रबन्ध एक नहिं मोरे।
सत्य कहौं लिख कागज़ कोरे॥

परन्तुजैसे बादलों के आवरणसे भानुका प्रकाश न्यून नहीं समझा जाता, वैसे ही सयाने कवियों का सयान भाव अयान भाव के वर्णन में भी झलकता रहता है; परन्तु मेरी विनय इस अभिप्राय से भी दीन है; क्योंकि मैं यथार्थ में असभ्य हूं—मुझ में ग्रंथ रचना योग्य विद्या नहीं है। यह ग्रंथ जो मुझ अकिञ्चन द्वारा निर्माण हो गया है, मुझे बहुत अशुद्धियां और त्रुटियां संयुक्त सम्भव होता है। जब मैं अपनी बुद्धि और ग्रन्थ की ओर दृष्टि करता हूं; तो मुझे आश्चर्य होता है, क्योंकि यह कार्य्य मेरी शक्ति से बाहर है। यह कोई भगवत इच्छा अथवा कुछ पूर्व-प्रकाश या सत्यदेव की कृपा है। मुझे इसकी रचना से इस प्रकार की अहं भावना नहीं है, कि मेरा नाम देश देश में प्रख्यात हो; क्योंकि मेरी वाणी " नक्कार खाने में तोता की "

अनुकरणीय है; प्रत्युत यह आशंका है, कि कोई विद्वान इसके अशुद्ध पक्ष, व्युत्क्रम, अथवा किसी मर्य्यादा के उलङ्घन में कोई प्रश्न करेगा, उसका उत्तर देना इस अनभिज्ञ को कठिन होगा। यद्यपि यह बात प्रगट है, कि संसार में सब नाम ही के लिये मरते हैं—कोई मंदिर बनवाते हैं; कोई बाग़ लगवाते हैं; कोई धर्मशाला बनवाते हैं, और कोई ग्रंथ बनाते हैं कुछ न कुछ अपनी कीर्ति का कृत खम्भ सब स्थापित करना चाहते हैं। मैं भी इस वासना से निर्लिप्त नहीं हो सकता हूं, परन्तु विशेष निवेदन मेरा इस पक्ष पर है कि "आप मरे जग डूबा" जब तक शरीर की स्थिति है तब तक नाम अनाम के हुलस की स्मृति है—पश्चात् बधिर के तुल्य सब राग निस्वाद हैं। पुरातन शास्त्रकारों ने अपने रचे ग्रन्थों में अपना नाम ग्राम कुछ नहीं लिखा, कारण कि यह जानते थे कि आत्मा अनाम है संकेत मात्र नाम कल्पित होता है। नवीन कवि 'पावक पचासा' में अपने फोटो तक स्थापित कर देते हैं। मेरा फोटो भी इस ग्रन्थ में अहं भावना का सूचक हो सकता है; परन्तु उसका तात्पर्य्य कुछ और है (पृष्ठ१६८)-विद्वानों का मत है, कि मुख आदमी के अन्तः करण का दर्पण है, जो बात उसके हृदय में होती है, उस की झलक मुखपर अवश्य आ जाती है। एवं बिम्ब चित्र (फोटो) नहीं, मेरी शान्त्याशांति भाव का आदर्श; और एक विशेष कर्तव्य का सांकेतिक है, जिसका पालन कदाचित सत्यातीत सुगम है, तो परिणाम उसका अधर्म न्याय नहीं है, मैं सेवक इसी धर्म पद का हूं। सत्य विवेचना में आज पर्य्यन्त जो अनुभव मुझे हुआ है, केवल उसका लोक संग्रहार्थ प्रगट कर देना मेरा परम उद्देश्य है। यही कारण ग्रन्थ आविष्कृत का है; तथा यह भी है, कि यह ग्रंथ अनुभव संचय की संसार में अगले जन्म

निमित्त थाथी है; किम्वा स्वप्न से जाग्रत अवस्था के समय अच्छा है। आज यहां तक चल लिया है, कल ईश्वर की कृपा होगी तो यहां से आगे चलने का उद्योग करेंगे। यह मेरी जीवनी नहीं, किन्तु इस बात का प्रमाण है, कि पूर्व का अभ्यास किया हुआ इस जन्म में अनायास प्राप्त होता है, मैं अपने स्वभाव से ऐसा अनुभव करता हूं; क्योंकि मुझे बाल्यावस्था में धर्म शिक्षा करने वाला कोई नहीं था।

जबमैं अबोध अवस्थामें था अपनी माताके मुद्रा अपहरण कर बाज़ार से मिठाई इत्यादि खाने की वस्तु, अथवा खिलोना इत्यादि खेलने को वस्तु न लेकर, धर्म सम्बन्धी पुस्तकों को लेता अथवा प्रेसों से मंगवाता था—यही मुझे प्रिय मालूम होता था, और यही मेरा आत्मिक स्नेहथा, इसी सम्बन्ध का मेरे चित्त को आह्लादिक रमणीक खेल था। मेरे गृह में मेरे हितकर शिक्षा देने वाला कोई नहीं था। मुझे असत्य से स्वाभाविक घृणा और सत्य से प्रेम था, यहां तक कि हमेशा यही ध्यान रहता था, कि अब सत्य का सच्चा सुहृद बन जाऊं। बाल्यावस्था से ही आज पर्य्यन्त इस भांति के कि, अभी नहीं यज्ञोपवीत होने पर, कभी विवाह होने पर कभी सन्तान उत्पन्न होने पर, कभी अमुक काम हो जाने पर, और कभी कुछ कालान्तर में दो साल अथवा एक साल पश्चात सत्य व्रत धारण करने का विचार करता रहा; परन्तु देहेन्द्रियों की प्रबल वासना के कारण विशुद्धात्मा का कल्याण सूचक सत्योपदेश मलिनमन अंगीकार न कर सका। अब अनेक प्रकार की उधेड़ बुन और संकल्प विकल्प करते हुये यह स्थिति हो गई कि:—

'यम सेना की विमल ध्वजा अब ज़रा दृष्टि में आती है।
करती हुई युद्ध रोगों से देह हारती जाती है॥

(गीता रहस्य प्रस्तावना)

भौंरा कमल-पुष्प की सुगंधि लेता हुआ सन्ध्या समय तक, जब कि पुष्प संपुटित होने को हुआ यही कहता कहता, कि थोड़ी सुगंध और ले लूं पुष्प में बन्द होगया; और आशा-लता का त्याग न कर विचार करने लगा कि:—

॥ सवैया ॥

जब बीतिहै रात प्रभात समय,
रवि की किरणें तमको हरि हैं।
खिल हैं दल उत्पल के सबहीं,
छुट हैं मम बंद कली झरि हैं।
इमि सोवतु हो अलि पंकज में,
समुझो नहि दैव कहा करि हैं।
मद माते मतंग ने तोड़ो सनाल,
सरोरुह षट् पद सो मरि हैं।

(अनुवाद चन्द्रोदय)

॥ दोहा ॥

काल करे सो आज कर, आज करे सो अब्ब।
अवसर बीता जात है, बहुर करेगा कब्ब॥

दीर्घायु वाला रावण भी विचार करता रह गया उसने अपने विचार पूर्ण न कर पाये। मनुष्य की दस दशाओं* में अब मेरी चौथी दशा को भोगना है, सो भी १०० वर्ष के हिसाब से; परन्तु १०० वर्ष की आयु किसी विरले ही भद्र पुरुष की होती है। संसार क्षण भंगुर है, नहीं मालूम आज यहां कल कहां।

अतः अब मैं उक्त तत्व (सत्य) की अंतःकरण से सेवा करने के लिये उसकी ओर क़दम बढ़ाता हूं। मेरा अंतःकरण निष्कपट भाव से यही साक्षी देता है, कि इस मृत्युलोक से राम अथवा रावण किसी पक्ष से एक दिन जाना सब का ध्रुव है, तो जीवन पर्य्यन्त सत्य सत्यानृत पर व्योम वृत्ति से अपना निर्वाह संसार में क्यों न कर? यदि सत्य सत्यानृत में तारतम्य हानि भी आविर्भूत हो, तो भिक्षा वृत्ति को अस्वीकार न कर अति संकष्ट समक्ष होने पर भी सत्य जनक से अपह्नव मत कर; क्योंकि जनक शिक्षा मात्र पुत्र की भलाई के लिये ताड़न करता है। जिसने अंतःकरण से सत्य का अन्वहं अन्वेषण कर सत्यका समाहार किया हैं, उसने अवश्यमेव स्वाभीष्ट को पाया है।

सत्य शिरोमणि है; इस को धारण किये हुये भिक्षा वृत्ति भी कोई अनुचित अथवा क्षत्र कर्म नहीं है। सुदामा की स्त्री ने भीख की महत्व प्रशंसा की है, वह कहती हैं कि:—

" मांग वह शै है जो मोती से भरी जाती है।
अपने शौहर की दुलहन मांग से कहलाती है॥"

---

*सुख संचारक कम्पनी मथुरा में छपा हुआ मनुष्य की दस दशाओं का चित्र देखने योग्य है।

महा शूर पांडवों ने वनवास में भिक्षा वृत्ति से निर्वाह किया है। प्राक् काल में कोई इस कर्म से हीण नहीं होता था और न वर्त्तमान की तरह कोई इसको घृणित दृष्टि से देखता था। वह कुत्सित कर्मों से हीन होते थे। गीता में अर्जुन ने कहा है कि— "दुष्कर्मों से प्राप्त हुये स्वर्ग साम्राज्य की अपेक्षा भिक्षा वृत्ति से निर्वाह करना श्रेयस्कर है" (१—३२, २—५) महाराजा हरिश्चन्द्र ने तो स्वप्न में भी दिये हुये दान को मिथ्या नहीं किया था, और विश्वा मित्र को राज्य संकल्प कर आप ने श्वपच की सेवा की थी, जो भिक्षा से भी निकृष्ट है। पहिले गुरुकुल और ऋषिकुल में राजा महाराजाओं के राज कुमार भी भिक्षा मांग २ कर खाते थे; और गुरू की सेवा कर शिक्षा ग्रहण करते थे, वह कभी निंद्य नहीं होते थे। जब वह गुरु गृह में ऐसे कठिन कर्म करने का अभ्यास कर लेते थे, तब ही अपने २ कर्तव्य पालन में परम श्रद्धावान् होते थे। वह आपत्तियों की समक्षता में व्याकुल नहीं होते थे, कष्टस्थल उन को हर्षस्थल प्रतीत होता था। जब रामचन्द्र जी को राज्याभिषेक के आनन्द समय वन जाना ज्ञात हुआ, तब उन्होंने वन क्लेश की ओर रंचक ध्यान न देकर अति आह्लाद ऐसा माना था; जैसे, हस्ति को बंधन से छूटने का होता है। प्राचीन समय ऐसा कोई धार्मिक राजा; महाराजा, ऋषि, और मुनि नहीं हुआ होगा, जिसे भीख लेने का अवसर न आया हो। अब तक भी यह प्रथा कहीं २ नेग मात्र चली आती है, कि यज्ञोपवीत अथवा विवाह में लड़के को कोपीन लगा बावा बनाते हैं और काशी भेजने का संस्कार करते हैं। यह वही गुरुकुल जाने की रीति है, जिसके अब नेग नियत कर लिये गये हैं। हमारी न्याय प्रशीला गवर्नमेन्ट ने भी युद्ध काल में इस कर्म को लघु दृष्टि

से नहीं देखा है, । वास्तव में भिक्षा वृत्ति कोई निंद्य कर्म नहीं है । प्रारब्ध वस अर्थात परतंत्र मनुष्य को तो अति नीच कर्म करना पड़ते हैं; जैसे अपराधी होकर कारागृह में चक्की पीसना इत्यादि अति लज्या और आंख छिपाने की करतूति हैं । कर्मवीर गीता रहस्यकार वाल गंगाधर तिलक इत्यादि पूजनीय प्रज्ञ पुरुषों ने इस काम में भी कुशलता प्राप्त की है । धर्म परीक्षा बड़ी कठिन है । परमश्रद्धावान् पुरुषही धर्म परीक्षामें उत्तीर्णता प्राप्त कर सकते हैं । सदाचारी पुरुष को अपने सदाचार का प्रति फल यदि प्रतिकूल प्राप्त हो, किन्तु किसी असह्य आपत्ति के आक्रमण का भान हो, तो अप्रतोष धारण नहीं करना चाहिये; क्योंकि भागने से श्वान और पीछा करता है । सुख का आविर्भाव विना क्लेश क्रिया आवाहन के अलब्ध है । सत्यवादी को भिक्षा वृत्ति से निर्वाह करने का अवसर सम्भव हो, तो ऐसे अवसर की अवज्ञा न कर आई हुई विपत्ति का इस्थाल करना चाहिये, पांडवों के समान । वरन उसे इस सम्बोधन से हर्षित होना चाहिये, कि अब मेरे अभ्यास की परीक्षा तिथि (तारीख) मुकर्रर हुई हैं । मुझे इस समय अपनी आन्हिक प्रेक्टस (प्रयत्न) को कम नहीं करना चाहिये—ऐसे समय की भूल से मुझे परीक्षा में सफलता न होगी । सत्य प्रतिज्ञ भिक्षुक की गणना भिक्षुकों में नहीं है; किन्तु सत्यरूपी किश्वाद पर आरूढ़ हो कर, भिक्षा रूपी शस्त्र से असत्य वासनाओं रूपी योधाओं से संग्राम करना है । अशौर्य भीरुक इस कर्म को क्या कर सकते हैं ? जो विषय भोग को रोते हैं । हज़ारों मनुष्यों को कत्ल कर डालना वीरता नहीं है; किन्तु सत्य रक्षार्थ हँसते हुये स्वयं शूली पर चढ़ जाना शूरता है ।

हम आधुनिक जीव हैं शक्ति हीन, वय हीन, द्रव्य हीन,

विद्या हीन, बुद्धि हीन, और मलिन चित्त हैं। हमको सच्चे सिद्ध पुरुषों अथवा ऐसे योगियों के दर्शन होना दुर्लभ हैं, जो कि विभूत संयुक्त (करामाती) परिचय देने वाले हैं। केवल पुस्तकों से काम नहीं चलता, गीता में भी कहा है:—

श्लो—" तद्विद्धि प्रणि पातेन परि प्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानि नस्तत्व दर्शिनः ॥

(४—३४)

अर्थः—हे अर्जुन ! वह ज्ञान तुम तत्व दर्शी ज्ञानियों से जान सकोगे; इस लिये उन से प्रणिपात सेवा कर पूछो, वह तुम को उपदेश करेंगे।

जब कृष्ण भगवान ने अर्जुनको अपना विराट् स्वरूपदिखलायाथा; तब अर्जुन को निश्चयहो गया था, कि यह वास्तव में भगवान् हैं, इन का उपदेश मुझे अवश्य माननीय है। विना विभूति परिचय के विश्वास दृढ़ नहीं होता; जैसे, पढ़े मनुष्य का बोध उसके शुद्ध उच्चारण से होता है, अथवा कोई चिट्ठी पत्री लिखने पढ़ने से; यदि कोई कान पर क़लम और हाथ में दवात लेकर कहे, कि मैं बी० ए० पास हूं और लिखता पढ़ता एक अक्षर न हो, तो विना लिखे पढ़े कैसे हो सकता है, कि यह विद्वान है। जब कि अनुभवी गुरू हमको प्राप्त नहीं होता है और हाथ पकड़ कर कोई हमको बतलाता नहीं है; इससे उत्तम है, कि और किसी अनुष्ठान के अनभिज्ञ झगड़े में न पड़ कर सीधा सत्य मार्ग (पक्की सड़क) पर आंख बन्द कर भी चले जांय तो गिरने और भूलने का संभ्रम नहीं है। "देवी पूत न देगी तो कुछ"""काट भी न लेगी" सत्य बोलने में हमारी कौन सी हानि है। सत्य से हमारे दोनों हाथ में अकिल्विस

लड्डू हैं और दोनों ही स्वादिष्ठ हैं। यह सब कोई जान सकता है, कि सत्य बोलना कोई पाप नहीं है। सत्य पर परमेश्वरकदापि रुष्ट नहीं हो सकता है। सत्य संसार में भी सुख देने वाला है। रमणीय (सत्य) आचरणों से बुद्धि शुद्ध होती है; और शुद्ध बुद्धि होने से सिद्धों का साक्षात होता है; जैसा, कि स्वाध्याय की टिप्पणी में कहा गया है (देखो पृष्ठ ४६) इससे जानना चाहिये कि परम पद की प्रतोली सत्य है। परमात्मा से भी प्रह्वन पूर्वक सदैव यही प्रार्थना करना चाहिये, कि हे भगवन्! मेरी प्रवृत्ति शुभाचरण की ओर कर, यथाः—

यज्जाग्रतो दूर मुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथै वैति।
दूरं गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मेमनः शिव सङ्कल्प मस्तु॥

(३४—१ यजु०)

अर्थः—हे भगवन ! जैसा मन जाग्रत अवस्था में दूर जाता है, वैसा ही स्वप्नावस्था में भी गमन करता है दिव्य है एक ज्योतियोंकी ज्योतिहै, वह मेरा मन शुभ सङ्कल्प वाला हो।

एवं सत्य तत्व के सम्बन्ध में मुझे जो कुछ अनुभव हुआ था ग्रंथ रूप में प्रकाशित कर चुका हूं। इतना फिर भी कहता हूं, कि सत्यानृत अथवा वृत्ति में भी विशेष लाभ सत्य से होता है। यह ज्ञान उस मनुष्य को सहज में हो सकता है, जिस ने अपने लाभ अलाभ पर अच्छा ध्यान दिया हो, कि मुझे सत्य से क्या हुआ और असत्य से क्या हुआ ? मान लीजिये कि "कोई मनुष्य ५) सेर कोई चीज़ बेचता है; और एक छटाक

कम तोलता है, अथवा कुछ मिला देता है। दूसरा वही चीज़ ४॥) सेर बेचता है और कुछ मिलाता करता भी नहीं है—शुद्ध तोलता है। ख़रीद दोनों की ४) सेर की है। एक दिन में पहले ने १० सेर और दूसरे ने ३० सेर माल बेचा। पहिले को तौल कम होने से किसी ने दो चार धक्के भी देदिये। अब बतलाइये कि पहिले को क्या और दूसरे को क्या लाभ हुआ ?"

उत्तर—"पहिले को १३८) और चार धक्के जिनका क्लेश और अहर्निश चिन्ता। दूसरे को १५) और निर्भय शांति सुख। तिस पर भी पहिले का यह कहना है, कि मैं बड़ा होशियार हूं, मैंने प्रति सेर ॥~) ज्यादा कमाये हैं।" दुराचारी मनुष्य अपनी हानि स्वयं करता है; और अविवेक के कारण उसको ज्ञात नहीं होता है। गीता में कहा है;—

श्लो—बंधुरात्माऽऽत्मन स्तस्य येनात्मै वात्म नाजितः।
अनात्म नस्तु शत्रुत्वे वर्ते मात्मैव शत्रु वत् ॥

अर्थः—जिसने अपनी बुद्धि अपना मन जीत लिया है, उसका मन मित्र है; और जिसने नहीं जीता है उसका मन अपना ही शत्रु है।

सुख दुःख भी मन की भूल के कारण मन के सङ्कल्प से होता है। भिक्षुक भिक्षा वृत्ति से निर्वाह करता है; औरआनन्द में रहता है। अभिक्षुक जिसने कभी भिक्षा न मांगी हो, किसी आपत्ति के कारण भिक्षा मांगने लगे, वह अधिक हीण होगा—वही उसको दुःख है। यदि वह ह्री का त्याग कर दे सुखी हो जाय। धूप, वर्षा, और शीत में रहना कष्ट है, यदि विशेष कर

इसी का सेन इवस अभिलाष पर किया जाय, कि इससे शरीर पुष्ट होता है, वल बढ़ता है, और आयु दीर्घ होती है, तो यही सुख की मूर्ति है। दुराचार का प्रतिकार तत्क्षण नहीं मिलता, इस कारण सत्य का ग्रहण नहीं किया जाता; यदि मनुष्य को यह भली भांति विदित हो जाय, कि असत्य घोर व्यामोह की जड़ है, तो मनुष्य व्यापादन करने पर भी असत्य का स्पर्श न करें।

। इति गीता सत्ययोग यष्ठ्यू।मका अथवा परिशिष्ट प्र० समाप्तः।

इति फूलसिंहात्मज मदनपुर निवासी अयोध्याप्रसाद,
" रत्नाकर " रचित गीता सत्ययोग प्रथम भाग
(सत्य सङ्कल्प का आदर्श) सम्पूर्णम्।

कमनीय कवि की कांति यदि, आदरित कञ्चन मञ्च पर।
पर प्रभाकर की प्रभा, रहती सदा साम्यैक पर॥
जो नहीं कर्तव्य पर, आरूढ़ हैं वे मूढ़ हैं।
छोटे हुये तो क्या हुआ, जीवन जगत् में नेत्र हैं॥१॥

चक्षु सम जो क्षुद्र हैं, कर्तव्य से व्यति रेक हैं।
उन अनेकों की समिति में, हम बदाबद एक हैं॥
कथना कथी कृत कृत्य की, चीन्हा नहीं कृत शब्द को।
आप फूटी आंख के, अञ्जन बताते और को॥२॥

स्वयम् सेवन के लिये भी, आतमा अभ्यान्त है।
पर विना हरि की कृपा, भाता कहां शुच श्रान्त है॥
जो यदि प्रभुहि अभ्यर्थना, पुरु मार्गण स्वीकृत्य है।
तो मुझे फिर ग्रहय होना, सत्य कर क्या शक्य है॥३॥

कौपीन हीन अधीन की, प्रण पीनता अप्रतीक्ष्य है।
राज गृह के शोक में ज्यों, गृह बंधावा द्वेष्य है॥
कहना न करना चौरता, गाया स्वमुख सत्धर्म को।
तज ना सकता निज ग्रंथ में, भाषे हुये सत्कर्म को॥४॥

संतोष नाशक प्रबल दल, भव भूति आयुध कर लिये।
सत्य भाषण सव्य साचिन्, आततायिन् के लिये॥

है भरा उत्साह दिल में, सत्य के प्रशरण्य का।
शैशव समैया बीत कर, बीतन चहत तारुण्य का ॥५॥

शुरू काल से था औत्सुक, वाहवा……!!!……श्लेस का।
भाग्य है श्लाघ्य ! पाया, दर्श है आदर्श का॥
प्रत्यय हुआ सत्कर प्रवर ! करवर मिलाकर !! सत्य कर।
प्रणत बालक पर भरोसा, कर लिया प्रण सत्य कर ॥६॥

सम्प्रति कभी मुँह से निकालूँ, झूठ का यक बोलना।
होय "रत्नाकर" विवश, बरवश दशा में ज़ोर ना॥
आदर्श सत् सङ्कल्प के, हे पाठको ! और श्रावको !
आशिष अनुग्रह दीजिये, वद्धर्धक मेरे अह्लाद को ॥७॥

(ग्रन्थकार)

पुस्तक मिलने का ठिकाना—
अयोध्या प्रसाद "रत्नाकर"
मु० पौंड जालौन, ज़िला झाँसी